PUSTAK VARTA JAN-FEB-2015 FINAL_JULY-AUGUST 2014.qxd 21-06-2015 18:35 Page 1

ISSN 2349-1809

पुस्तक-वार्ता

अंक 56 ■ नई दिल्ली, जनवरी-फरवरी 2015

संरक्षक संपादक
गिरीश्वर मिश्र *(कुलपति)*

संपादक
विमल झा

प्रकाशक
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)
Website: www.hindivishwa.org

संबंधित लेखकों द्वारा पत्रिका में प्रकाशित विचारों से विश्वविद्यालय और संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्र वर्धा (महाराष्ट्र)

एक अंक: ₹20
वार्षिक सदस्यता : ₹120

चेक कमीशन जोड़कर वार्षिक ₹145 और द्वैवार्षिक ₹265 म.गां.अं.हिं.वि, वर्धा को भेजें। मनीआर्डर स्वीकार्य नहीं।

पत्रिका का वितरण अब दिल्ली से होता है। पत्रिका न मिलने की शिकायत इस पते पर करें : रुचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 01, वैस्ट गोरख पार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032 (मो. 09212796256)

मुखपृष्ठ : जे. पी. त्रिपाठी

संपादकीय संपर्क : 51 सी, ऊना इनक्लेव,
मयूर विहार-1, दिल्ली-110091 (मो. 09910186568)
E-mail: pustakvimal@gmail.com

प्रकाशन प्रभारी: राजेश यादव, प्रबंध, बिक्री और वितरण केंद्र:
प्रकाशन विभाग: महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)
फोन:07125-232943

PUSTAK-VARTA
A Bi-monthly journal of book Reviews in Hindi published by Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya, Post-Gandhi Hills, Wardha-442005 (Mahrashtra)

छपाई: रुचिका प्रिंटर्स, दिल्ली-110032
email:ruchikaprinters2005@gmail.com

इस बार

मुझे लगता है कि 'कामायनी', 'राम की शक्तिपूजा' और 'गोदान' में जो त्रासद दृश्य और दृष्टि है वह एक प्रकार से आजादी के समय की त्रासदी का पूर्वाभास है। यहां मुझे प्रेमचंद का वह प्रसिद्ध कथन याद आता है जिसके अनुसार साहित्य राजनीति के आगे चलनेवाली सच्चाई दिखानेवाली मशाल है।

संपूर्ण अर्थ में भारतीय कवि हैं निराला: **मैनेजर पांडेय** 4

निराला में यथार्थ कथन...: **नंदकिशोर नवल** 14

आधुनिक चाणक्य या आधुनिक कौटिल्य: **अरविंद मोहन** 18

भूख के व्याकरण...: **शैलेश/शिवप्रकाश/कर्मवीर/पल्लवी** 20

वाजश्रवा के बहाने: अर्थ के संधान : **प्रभाकर श्रोत्रिय** 24

संबंधों की ऊष्मा को जीवित...: **अरुण होता** 30

सिनेमा के सम्मोहन की गहरी समझ: **विनोद अनुपम** 34

हर कोई यहां ढूंढ़ रहा है...: **उमाशंकर चौधरी** 37

जीवन की खुरदरी एवं...: **सुमित सौरभ** 40

विधा की सीमाएं तोड़ती एक डायरी : **कृष्ण प्रताप सिंह** 43

भारतीय मध्यवर्ग की आत्म-समीक्षा : **धनंजय दुबे** 46

निराला की कविता का आरंभ औपनिवेशिक भारत में होता है और यह काव्य यात्रा स्वतंत्र भारत में एक दशक तक चलती रहती है। यह परिवर्तन का काल है। निराला एक जिम्मेदार कवि के रूप में उपस्थित होते हैं जो काव्य की आंतरिक संगति के प्रति जितना सतर्क है उतना ही समाज या बाह्य जगत के प्रति भी न केवल उन्मुख है वरन उससे सहज रूप से जुड़ा हुआ है।

निराला की कविताई: कुछ छवियां : **गिरीश्वर मिश्र** 10

PUSTAK VARTA JAN-FEB-2015 FINAL_JULY-AUGUST 2014.qxd 21-06-2015 18:35 Page 2

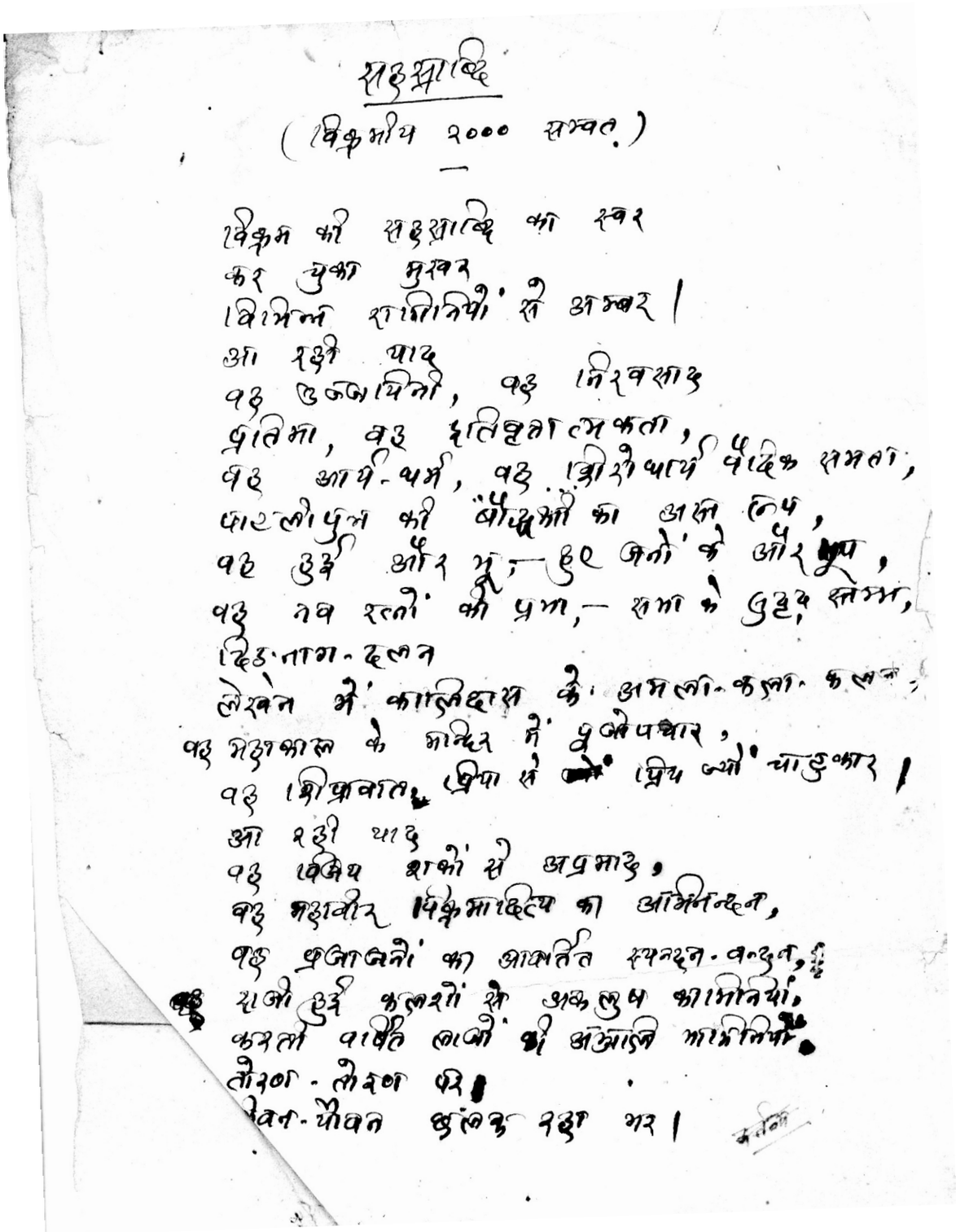

सहस्राब्दि

(विक्रमीय २००० संवत्)

विक्रम की सहस्राब्दि का स्वर
कर चुका मुखर
विभिन्न राशियों से अम्बर।
आ रही याद
वह उज्जयिनी, वह निरवसाद
प्रतिमा, वह प्रतिकृतात्मकता, वह
वह आर्य-धर्म, वह त्रिरोधार्य पंचक शमता,
पाटलीपुत्र की बौद्धों का अलि निधि,
वह उठे और मुनि-गुण जनों के और झुके,
वह नव रत्नों की प्रभा,— सभा के वृहद् स्तम्भ,
दिङ्नाग-हलन
लेखन में कालिदास के अमलो-कला-कलन,
वह महाकाल के मन्दिर में पूजोपचार,
वह त्रिप्रवात, प्रिया से प्रिय ज्यों चाटुकार।
आ रही याद
वह विजय शकों से अप्रमाद,
वह महावीर विक्रमादित्य का अभिनन्दन,
वह प्रजाजनों का आवर्तित स्पन्दन-वन्दन,
वह राजी हुई कलशों से अकलुष कामिनियाँ,
करती वार्षिक लाजों की अंजलि मालिनियाँ,
तोरण-तोरण पर।
जीवन-यौवन छलक रहा भर।

पं. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की हस्तलिपि में उनकी यह कविता स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में संरक्षित है।

PUSTAK VARTA JAN-FEB-2015 FINAL_JULY-AUGUST 2014.qxd 21-06-2015 18:35 Page 3

संपादकीय

देश में सोशल मीडिया की लोकप्रियता चरम पर है। कुछ लोग इसे संपर्क बढ़ाने और ठंडे पड़े रिश्तों में जीवन का संचार करने में उपयोगी पाते हैं तो तमाम लोग इसे अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम मानते हैं। इसी का परिणाम है कि फेसबुक, ट्विटर, गूगल प्लस, यू ट्यूब जैसे सोशल मीडिया के माध्यमों पर पढ़ा-लिखा तबका तो सक्रिय है ही आमजन भी हाथ आजमाने में कहीं पीछे नहीं हैं। यहां तक कि जो गृहणियां कभी कंप्यूटर के पास नहीं फटकती थीं वह भी फेसबुक पर अपने उद्‌गार व्यक्त कर रही हैं। आंकड़ों पर गौर करें तो आज भारत में सोशल मीडिया के तकरीबन ग्यारह करोड़ उपयोक्ता हैं। सोशल नेटवर्किंग साइट फेसबुक इनमें सबसे ज्यादा लोकप्रिय है। इसे करीब दस करोड़ लोग इस्तेमाल कर रहे हैं। दूसरे स्थान पर ट्विटर है। इससे लगभग ढाई करोड़ लोग जुड़े हैं। सोशल नेटवर्किंग साइट से इतर तमाम लोग अपने ब्लॉग पर भी खासा सक्रिय हैं और समय-समय पर अपनी टिप्पणियों से माहौल गरमाये रहते हैं। बहरहाल, यह तो है देश में सोशल मीडिया का परिदृश्य। अब सवाल है कि इसका हिंदी से कैसा रिश्ता बन पाया है या इस पर हिंदी भाषा में कितना कंटेंट है। एक समय था जब सोशल मीडिया पर लगभग अंग्रेजी का एकाधिकार था और हिंदी भाषा के जानकार चाहकर भी कुछ खास नहीं कर पाते थे। उनकी सक्रियता बेहद सीमित थी।

लेकिन अब परिदृश्य बदल गया है। अब इंटरनेट पर देवनागरी में लिखना बेहद आसान हो गया है और कई बड़ी हस्तियां इसमें भी लिखने लगी हैं। विशेषज्ञों की राय है कि इस बदलाव में हिंदी ब्लॉगरों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। पांच-छह साल पूर्व जब इनकी सक्रियता बढ़ने लगी तो उसने सबका ध्यान आकृष्ट किया। उसी दौरान हिंदी टाइपिंग टूल में भी पर्याप्त सुधार होता रहा। हिंदी की लोकप्रियता और बाजार के दबाव के कारण मोबाइल प्लेटफार्म पर भी हिंदी को महत्व मिलने लगा। सोशल नेटवर्किंग साइट फेसबुक ने तो क्रांतिकारी बदलाव ही ला दिया। इस पर सक्रिय लोग हिंदी में न केवल दिल की बात लिखते हैं बल्कि सामाजिक-राजनीतिक मुद्दों पर त्वरित टिप्पणियां भी करते हैं। कुछ लोगों का मत है कि सोशल मीडिया हमारी अभिव्यक्ति के लिए स्वर्णकाल है और एक तरह से यह पांचवां स्तंभ है। फेसबुक, ट्विटर, गूगल प्लस, यू ट्यूब जैसे सोशल मीडिया के रहते किसी को अपनी रचना प्रकाशित कराने के लिए अखबारों-पत्रिकाओं पर निर्भर रहने की जरूरत नहीं है वह जब चाहे अपनी रचना मनचाहे लोगों तक पहुंचा सकता है। इसी के चलते आज सोशल मीडिया के मंचों पर हिंदी में तमाम ऐसा साहित्य लिखा जा रहा है जिसने कई सीमाएं तोड़ी हैं। इस तरह के साहित्य की अपनी विशेषताएं हैं। कई देशों में तो सोशल मीडिया पर रचे साहित्य को प्रोत्साहित करने के लिए पुरस्कार इत्यादि घोषित हुए हैं, उम्मीद है कुछ हिंदी संस्थाएं जल्दी ही इस दिशा में सक्रिय होंगी। इंटरनेट पर निश्चित रूप से हिंदी का माहौल बदला है। हिंदी को लेकर लोगों की सोच में बदलाव आ गया है क्योंकि सोशल मीडिया के तमाम चैनलों पर हिंदी लगातार लोकप्रिय होती जा रही है। भारत में यू ट्यूब पर लोकप्रिय कई चैनल अब सिर्फ हिंदी में ही सामग्री तैयार कर रहे हैं। इन्हीं सब के कारण आज भारतीय भाषाओं में हिंदी का ही सबसे अधिक कंटेंट इंटरनेट पर है। एक दशक पूर्व तमिल सबसे आगे थी लेकिन अब वह पीछे है। जाहिर है कि हिंदी की लोकप्रियता ने उसे वह स्थान दिला दिया है जिसकी वह हकदार रही है। कुल मिलाकर देखा जाए तो हिंदी और सोशल मीडिया दोनों ने एक-दूसरे के प्रचार-प्रसार में महती भूमिका निभायी है। इससे सबसे ज्यादा भला आम आदमी का हुआ है।

महाकवि सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की जयंती 21 फरवरी को पड़ती है। वे छायावाद के प्रमुख स्तंभ तो थे लेकिन उन्हें किसी एक वाद के दायरे में बांधा नहीं जा सकता। इस अंक का प्रारंभ निराला के स्मरण से किया जा रहा है। आपकी प्रतिक्रियाओं का इंतजार है...

विमल झा

PUSTAK VARTA JAN-FEB-2015 FINAL_JULY-AUGUST 2014.qxd 21-06-2015 18:35 Page 4

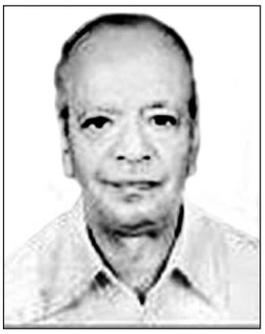

■ मैनेजर पांडेय

संपूर्ण अर्थ में भारतीय कवि हैं निराला

महाकवि सूर्यकांत त्रिपाठी निराला का व्यक्तित्व सही अर्थों में विराट है। वे छायावाद के प्रमुख स्तंभ तो थे ही, उन्होंने आधुनिक हिंदी कविता को छंद मुक्त करने में महती भूमिका निभाई। यहां प्रस्तुत है निराला के व्यक्तित्व और कृतित्व पर वरिष्ठ आलोचक **मैनेजर पांडेय** से **शशिकांत** की बातचीत

आज के दौर के हिंदी के कवियों और लेखकों के बीच जो संबंधों का हाल है, उसे देखते हुए यह आश्चर्य होता है कि क्या आज के हिंदी के लेखक और कवि भारतेंदु युग, छायावाद और प्रगतिशील कवियों के बीच के आपसी संबंधों के उत्तराधिकारी कहे जा सकते हैं?

क्या निराला जी को आपने कभी देखा है? निराला जी से व्यक्तिगत रूप से आप क्या कभी मिले हैं?

निराला जी को मैंने केवल एक बार देखा है। बात सन् 1959-60 की है। मैं बनारस के डीएवी डिग्री कॉलेज का छात्र था। कॉलेज से सटा हुआ डीएवी इंटर कॉलेज था। उसके प्रिसिपल थे हिंदी के जाने-माने लेखक और व्यंग्यकार कृष्णदेव प्रसाद गौड़ 'बेढब बनारसी'। गौड़ जी से मेरा आत्मीय संबंध था। वे मुझसे बहुत स्नेह करते थे। इसलिए काशी के किसी भी साहित्यिक और सांस्कृतिक समारोह में, जब उन्हें जाना होता था, तो मुझे भी साथ ले जाते थे। उन्होंने ही एक दिन मुझे खबर दी कि निराला जी काशी में आए हुए हैं। मैं उनके दर्शन के लिए जा रहा हूं। तुम भी चाहो तो मेरे साथ चलो। मैं बेढब जी के साथ निराला जी के दर्शन के लिए चल पड़ा। निराला जी गऊ घाट पर गंगाधर शास्त्री के यहां ठहरे हुए थे।

हमलोग जब पहुंचे तो वहां पहले से पांच-छ: लोग मौजूद थे और बीच में निराला जी अपने भव्य रूप में विराजमान थे। वहां बैठे हुए सभी लोग उम्र में मुझसे बड़े थे इसलिए वे ही निराला जी से बात कर रहे थे। मैं केवल श्रोता और दर्शक था। इसी बातचीत के दौरान निराला जी ने कहा कि चाय चाहिए। गौड़ जी ने एक आदमी से कहा कि जाओ, चाय ले आओ। वह गया और एक छोटे से मिट्टी के पुरवे में चाय लेकर आया और निराला जी की ओर बढ़ाया। निराला जी उस छोटे से बर्तन में चाय देख खीझ पड़े और अपना कान आगे कर दिया और कहा कि इसी में डाल दो। इस बात पर सब लोग चकित थे। निराला जी ने फिर कहा कि मैं लोटे में चाय पीता हूं। इस छोटे से मिट्टी के पुरवे में नहीं। गौड़ जी ने चाय लानेवाले को कहा कि जाओ और बड़े बर्तन में चाय लेकर आओ और साथ में एक गिलास भी। वह चाय लेने चला गया। इस बीच लोग निराला जी से बात करते रहे। चाय आई। निराला जी ने एक-दो गिलास चाय पी फिर थोड़े प्रसन्न दिखे।

यह सब करते हुए लगभग एक घंटा बीत गया। बेढब जी ने निराला जी से कहा कि कोई अपनी कविता सुनाइए। निराला जी ने कहा कि मैं अब काशी में अपनी कोई कविता नहीं सुनाउंगा। अगर आप एक हारमोनियम की व्यवस्था करें तो भाई साहब का एक गीत गाऊं। भाई साहब से निराला जी का आशय जयशंकर प्रसाद से था। हारमोनियम आया। उन्होंने जयशंकर प्रसाद के प्रसिद्ध नाटक 'स्कंदगुप्त' का एक गीत 'आह! वेदना मिली विदाई' सस्वर गाना शुरू किया। वे प्रसाद जी का गीत गा रहे थे और साथ-साथ रो भी रहे थे। हमलोग यह अद्‌भुत दृश्य देख कर भावुक थे। यही निराला जी का मेरा पहला और आखिरी दर्शन था। जाहिर है, वह पूरा दृश्य और सस्वर गीत गाते और रोते हुए

निराला जी का जो रूप मैंने देखा वह आज भी याद है।

निराला जी छायावाद के चार स्तंभों में से एक थे। छायावादी कवियों में महादेवी वर्मा के साथ उनके मधुर संबंध थे। महादेवी जी उन्हें राखी भी बांधती थीं। अन्य छायावादी कवियों के साथ निराला के संबंध कैसे थे?

निराला जी जयशंकर प्रसाद को अपना बड़ा भाई मानते थे। और प्रसाद जी भी उनसे बहुत स्नेह करते थे। निराला जी एक बार बीमार पड़े तो प्रसाद जी ने अपने घर पर रख कर निराला जी की सेवा और देखभाल की और पूरी तरह स्वस्थ होने के बाद ही उनको जाने दिया। निराला जी के मन में प्रसाद जी के प्रति अपार आदर भाव था। निराला जी ने सन् 1940 में प्रसाद जी पर एक लंबी कविता लिखी थी। उस कविता की आरंभिक पंक्तियां ये हैं-

'हिंदी के जीवन हे, दूर गगन के द्युतर
ज्योतिर्मय तारा - से उतरे तुम पृथ्वी पर।'

और उस कविता की अंतिम चार पंक्तियां ये हैं-

अपने में निश्छल युग प्रवर्त्तक,
हुए शीत में व्याधि से विकल,
रहा साथ मैं नतमस्तक, सेवा को, अग्रज,
चले गए तुम धरा छोड़ गौरव-विजय ध्वज!

(माधुरी मासिक, लखनऊ, दिसंबर 1940 में प्रकाशित)

इस कविता की ये पंक्तियां स्पष्ट करती हैं कि प्रसाद जी के प्रति निराला जी का कैसा भाव था। जैसा कि आपने प्रश्न में संकेत किया है, महादेवी से निराला जी का बहुत आत्मीय संबंध था। निराला जी ने महादेवी जी के लिए भी सन् 1943 में एक कविता लिखी थी जिसका शीर्षक था- 'युगप्रवर्तिका श्रीमती महादेवी वर्मा के प्रति'। इस कविता में महादेवी जी की काव्य कृतियों और गद्य कृतियों का उल्लेख करते हुए उनके महत्व

का उद्घाटन किया गया है। निराला जी की देखभाल और सेवा का काम भी महादेवी जी करती थीं।

छायावादी कवियों में जिसके साथ उनका राग और विराग का संबंध था वे थे सुमित्रानंदन पंत। जान-बूझ कर मैं 'राग' और 'विराग' दोनों शब्दों का प्रयोग कर रहा हूं क्योंकि निराला जी पंत जी से स्नेह करते थे लेकिन उनकी निर्मम आलोचना भी करते थे। यह बात 'पंत और पल्लव' नाम की उनकी पुस्तक से जाहिर है।

छायावादी कवियों के बीच आपस में जैसी आत्मीयता और एकता थी वैसी ही आत्मीयता और एकता हिंदी के चार प्रगतिशील कवियों के बीच मौजूद थी। वे कवि हैं- नागार्जुन, शमशेर, केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन। इनमें से प्रत्येक कवि ने एक-दूसरे पर कविता लिखी है। ये सभी प्रगतिशील कवि एक-दूसरे की चिंता भी करते थे। हाल-चाल जानना चाहते थे और जानते रहते थे। मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव से यह कह सकता हूं कि ये सभी कवि एक-दूसरे के बारे में चिंतित रहते थे। इनमें तीन कवियों से मेरा निकट का संबंध था। वे थे- नागार्जुन, त्रिलोचन और शमशेर। मैं एक बार शमशेर जी से मिलने सुरेंद्र नगर, गुजरात गया हुआ था। शमशेर जी ने मुझसे सबसे पहले बाबा (नागार्जुन) का समाचार पूछा, फिर त्रिलोचन का।

आधुनिक काल के आरंभिक दौर के भारतेंदु युग के लेखकों के बीच जैसी एकता और आत्मीयता थी, उसी का विस्तार छायावादी कवियों के बीच की आत्मीयता और एकता में दिखायी देता है और प्रगतिशील कवियों की आत्मीयता तथा एकता में भी। आज के दौर के हिंदी के कवियों और लेखकों के बीच जो संबंधों का हाल है, उसे देखते हुए यह आश्चर्य होता है

कि क्या आज के हिंदी के लेखक और कवि भारतेंदु युग, छायावाद और प्रगतिशील कवियों के बीच के आपसी संबंधों के उत्तराधिकारी कहे जा सकते हैं ?

छायावाद से स्वयं निराला जी का कैसा संबंध था? निराला जी की कविता में कितना छायावाद है, और कितना वह छायावाद से अलग है?

निराला जी सहज रूप से स्वच्छंद कवि थे। वे किसी एक काव्य-दृष्टि, एक विचारधारा, एक रचनात्मक प्रवृत्ति में बंधकर कविता लिखनेवाले कवि नहीं थे। उन्होंने अपनी दृष्टि की विशालता, उदात्तता और विविधता का प्रमाण लगातार अपनी रचनाशीलता में दिया है। जिस समय वे 'संध्या सुंदरी' जैसी सुगठित छायावादी कविता लिख रहे थे उसी समय 'भिक्षुक' जैसी प्रगतिशील कविता भी लिख रहे थे। ये दोनों कविताएं 1923 की हैं। और दोनों 'परिमल' में संकलित भी हैं। इसी दौर में निराला ने एक ओर 'चुम्बन' जैसी कविता लिखी तो दूसरी ओर 'गरीबों की पुकार' जैसी कविता भी लिखी। निराला जी मुक्त छंद के प्रवर्त्तक और प्रयोक्ता माने जाते हैं। पर उन्होंने लगातार छंदों में भी कविताएं लिखीं। निराला जी की कविता में लगातार छायावाद के दौर में भी उसके दायरे से बाहर निकल कर यथार्थपरक कविताएं रचने की प्रवृत्ति मिलती है। इसलिए निराला जी का काव्य-संसार छायावाद का मूर्त्त रूप देता है तो उससे अलग होता हुआ भी दिखायी देता है। बाद के दिनों में 1937 के बाद वे छायावाद से क्रमशः अलग होते हुए यथार्थोन्मुख रचना-दृष्टि के कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं। निराला के काव्य-संसार में ऐसी अनेक कविताएं हैं जो सहज रूप से प्रगतिशील धारा के बीच रखी जा सकती हैं। उनकी ऐसी कविताएं खासतौर से 1937 से 1946 के बीच की हैं।

उस युग के सबसे बड़े आलोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल के साथ क्या निराला जी का कोई वैचारिक द्वंद्व था, क्योंकि शुक्ल जी पर व्यंग्यात्मक लहजे में निराला जी ने एक कविता लिखी थी।

आचार्य शुक्ल से निराला जी की नाराजगी का मुख्य कारण यह था कि आचार्य शुक्ल छायावादी कविता को रहस्यवाद से जोड़कर देखते थे, इसलिए निराला जी उनका विरोध करते थे। रामचंद्र शुक्ल ने 'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक से एक लंबा निबंध लिखा। वे रहस्यवाद को स्वदेशी नहीं मानते थे। इन बातों से निराला जी नाराज थे। इसलिए उन्होंने एक ओर छायावादी कविता की रक्षा के लिए आलोचनात्मक लेखन किया तो दूसरी ओर आचार्य शुक्ल पर व्यंग्य विनोद से भरपूर कविता में आक्रमण भी किया। प्रायः संसार भर के कवि अपनी काव्य प्रवृत्ति और दृष्टि की रक्षा के लिए विरोधी आलोचकों से वैचारिक संघर्ष करते रहे हैं। स्वयं छायावादी कवियों ने यह काम किया है। छायावाद में मौजूद रहस्यवाद की रक्षा में जयशंकर प्रसाद, निराला, महादेवी वर्मा और सुमित्रानंदन पंत ने कई निबंध लिखे। लेकिन निराला आचार्य रामचंद्र शुक्ल के आलोचनात्मक लेखन के महत्व को समझते थे और उसका सम्मान भी करते थे। इसलिए आचार्य शुक्ल की मृत्यु के बाद उन्होने श्रद्धांजलि स्वरूप 'आचार्य शुक्ल के प्रति' शीर्षक से एक कविता लिखी जिसकी आरंभिक पंक्तियां ये हैं-

'अमानिशा थी समालोचना के अंबर पर
उदित हुए जब तुम हिंदी के दिव्य कलाधर।'

निराला और अन्य छायावादी कवियों ने सीधे-सीधे राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन पर कविता क्यों नहीं लिखी? क्या साहित्य और राजनीति को लेकर निराला और अन्य छायावादी कवियों की कोई अलग दृष्टि थी? राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन से छायावाद और विशेष रूप से निराला का कैसा संबंध था? कुछ आलोचकों ने उनकी बहुचर्चित कविता 'राम की शक्तिपूजा' को राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन से जोड़कर देखा है। इस संबंध में आपका क्या नजरिया है?

स्वाधीनता आंदोलन से छायावाद की कविता का अनेक स्तरीय संबंध है। यह ठीक है कि छायावादी कवियों ने 'झंडा ऊंचा रहे हमारा' जैसा कोई गीत नहीं लिखा लेकिन उन्होंने स्वाधीनता आंदोलन के अनेक पक्षों पर कविताएं लिखीं। पहली बात तो यह है कि छायावादी कवि स्वाधीनता आंदोलन के भाव, स्वाधीनता की चेतना, स्वाधीनता की दृष्टि और स्वाधीनता के महत्व की कविताएं बराबर लिखते रहे। वे स्वाधीनता के प्रति भारतीय जनता में आत्मीयता का भाव पैदा करना महत्वपूर्ण मानते थे। जयशंकर प्रसाद के नाटकों के गीतों में ऐसे अनेक गीत हैं जो स्वाधीनता आंदोलन के अभियान के गीत कहे जा सकते हैं। उनका एक प्रसिद्ध गीत है- 'हिमाद्रि तुंग श्रृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती।'

उसी तरह उनका एक और गीत है जो देशभक्ति का गीत है- 'अरुण यह मधुमय देश हमारा।' निराला जी ने एक कविता लिखी है- 'काले काले बादल छाए, न आए वीर जवाहरलाल।' 'बेला' संग्रह में संकलित यह कविता उन्होंने 1937 से 1946 के बीच लिखी है। इसी दौर की एक और कविता में जवाहरलाल मौजूद हैं। लेकिन स्वाधीनता की चेतना और भावना से जुड़ी निराला जी की दो और कविताएं हैं- 'जागो फिर एक बार' तथा 'बादल राग'। महादेवी जी ने भी कुछ ऐसे गीत लिखे हैं जिनका संबंध स्वाधीनता की चेतना से है। महादेवी जी का एक गीत है-

'चिर सजग आंखें उनींदी
आज कैसा व्यस्त बाना
जाग तुझको दूर जाना।'

दरअसल सभी छायावादी कवि स्वाधीनता के दौर में जागरण के गीत

लिखकर भारतीय जनता को जगा रहे थे। स्वाधीनता आंदोलन केवल राजनीतिक आंदोलन नहीं था, वह सांस्कृतिक मुक्ति का आंदोलन भी था। छायावादी कवि सांस्कृतिक मुक्ति के गायक थे। वे विदेशी गुलामी से मुक्ति चाहते थे तो भारतीय समाज में मौजूद स्त्रियों और दलितों की गुलामी से भी मुक्ति चाहते थे। इस तरह छायावादी कविता मनुष्य की मुक्ति की भी कविता है।

यह सही है कि 'राम की शक्तिपूजा' में स्वाधीनता आंदोलन का प्रतिबिंबन है। इसे मैं दो रूपों में देखता हूं। मुझे लगता है कि अंग्रेजी राज भारत के लिए कुल मिलाकर रावण राज ही था। पर वह शक्तिशाली भी था। इसीलिए 'राम की शक्तिपूजा' की यह चिंता कि 'अन्याय जिधर है उधर शक्ति' यह स्वाधीनता आंदोलन से जुड़ी हुई लगती है।

दूसरी बात यह है कि निराला जी के साथ ही हिंदी के और लेखक जिनमें प्रेमचंद मुख्य हैं, कांग्रेसी स्वाधीनता आंदोलन से पूरी तरह संतुष्ट नहीं थे। इसीलिए निराला जी ने 'राम की शक्तिपूजा' में यह भी लिखा है कि रावण पर विजय के लिए 'शक्ति की मौलिक कल्पना करना जरूरी है। उसी तरह अंग्रेजी साम्राज्यवाद पर विजय के लिए भारतीय जनता को संगठित करने की नयी कल्पना और संभावना पर जोर दिया गया है।

तीसरी बात यह भी ध्यान रखने की है कि स्वाधीनता आंदोलन में लगातार उतार-चढ़ाव के मौके आते रहे। उतार के दौर में निराशा भी पैदा हो रही थी। उस निराशा से मुक्ति के लिए 'राम की शक्तिपूजा' का यह वाक्य प्रेरणादायक था कि -

'वह एक और मन रहा राम का जो न थका
जो नहीं जानता दैन्य नहीं जानता विनय।'

1936 में हिंदी की तीन प्रमुख कृतियां- कामायनी (जयशंकर प्रसाद), गोदान (प्रेमचंद) और राम की शक्तिपूजा (निराला) प्रकाशित हुईं। क्या इसकी कोई ऐतिहासिक वजह थी?

स्वाधीनता आंदोलन केवल राजनीतिक आंदोलन नहीं था, वह सांस्कृतिक मुक्ति का भी आंदोलन था। और छायावादी कवि सांस्कृतिक मुक्ति के गायक थे। वे विदेशी गुलामी से मुक्ति चाहते थे तो भारतीय समाज में मौजूद स्त्रियों और दलितों की गुलामी से भी मुक्ति चाहते थे। इस तरह छायावादी कविता मनुष्य की मुक्ति की भी कविता है।

कभी-कभी किसी भाषा के साहित्य के इतिहास में एक साथ अनेक ऐसी महत्वपूर्ण रचनाएं आती हैं जो अपनी महत्ता और उदात्तता के कारण समाज को चकित भी करती हैं और साहित्य की धारा तथा दिशा को मोड़ती भी हैं। ऐसी ही महत्वपूर्ण साहित्यिक घटना सन् 1936 में घटी जिसमें एक साथ 'कामायनी', 'गोदान' और 'राम की शक्तिपूजा' जैसी कालजयी कृतियां हिंदी समाज के सामने आईं।

इन तीनों रचनाओं की संवेदनात्मक संरचना पर ध्यान दीजिए तो कुछ बातें तीनों में एक जैसी हैं। तीनों रचनाओं में आरंभ और मध्य में संघर्ष है। 'कामायनी' का अंत आध्यात्मिक है। मनु संघर्ष की दुनिया से निकलकर त्रिपुर लोक के आनंद में जाते हैं। तो 'राम की शक्तिपूजा' में राम पराजय की आशंका से ग्रस्त होते हुए उससे उपजी निराशा से मुक्ति के लिए शक्ति की आराधना करते हैं और शक्ति का आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। 'गोदान' का होरी उपन्यास के अंत होते-होते जीवन की लड़ाई हार जाता है और मृत्यु का शिकार होता है।

आश्चर्य की बात तो यह है कि जिस समय ये तीनों रचनाएं लिखी गईं उस समय स्वाधीनता आंदोलन चरम पर था पर धीरे-धीरे उसके नेता गांधी अशक्त और असहाय होते जा रहे थे। उसी का एक परिणाम यह था जो त्रासदी से युक्त आजादी देश को मिली। मैं जिस त्रासदी की बात कर रहा हूं उसका संबंध देश के विभाजन, भयावह हत्याकांड और विराट विस्थापन से है। मुझे लगता है कि 'कामायनी', 'राम की शक्तिपूजा' और 'गोदान' में जो त्रासद दृश्य और दृष्टि है वह एक प्रकार से आजादी के समय की त्रासदी का पूर्वाभास है। यहां मुझे प्रेमचंद का वह प्रसिद्ध कथन याद आता है जिसके अनुसार साहित्य राजनीति के आगे चलनेवाली सच्चाई दिखानेवाली मशाल है।

निराला स्वयं किसान थे। उस दौर के किसान आंदोलनों से उनका कैसा संबंध था?

निराला के साहित्य में भारतीय किसान की केंद्रीय स्थिति है। निराला ने अपनी काव्य-रचना के आरंभिक दौर से ही किसानों की गरीबी, तबाही, परेशानी, यातना और गुलामी को व्यक्त किया है। उनकी काव्य रचना के आरंभिक दौर की एक प्रसिद्ध कविता है- 'बादल राग'। इस कविता में भारतीय किसान के जीवन के सच को और उस सच को बदलने की आकांक्षा को इस तरह व्यक्त किया गया है-

'जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर,
तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ऐ विप्लव के वीर!
चूस लिया है उसका सार,
हाड़ मात्र ही हैं आधार,
ऐ जीवन के पारावार!'

यह कविता 1924 में छपी थी। निराला की काव्य रचना के दूसरे दौर में

जिसका विस्तार 1937 से 1946 तक है, की एक कविता है- 'झींगुर डटकर बोला'। कविता के आरंभ में किसानों के प्रसंग हैं। गांधीवादी राजनीति की रीति-नीति की आलोचना करते हुए निराला ने लिखा है-

'गांधीवादी आए,
देर तक, गांधीवाद क्या है, समझाते रहे।
देश की भक्ति से,
निर्विरोध शक्ति से
राज अपना होगा,
जमींदार, साहूकार अपने कहलाएंगे'

निराला प्रेमचंद की तरह ही जमींदारी प्रथा और उसके पोषक अंग्रेजी राज के निर्भीक आलोचक थे। वे जानते थे कि जमींदारों को अंग्रेजी राज का संरक्षण प्राप्त है और उसी राज के शासन तथा प्रशासन की मदद से जमींदार किसानों और मजदूरों का शोषण और दमन करते हैं। वे किसान आंदोलनों को निर्ममता से दबाते भी हैं। जब भी किसान संगठित होकर अपने शोषण और गुलामी के विरुद्ध आवाज उठाते थे तो उनका दमन जमींदार और उसके आदमी करते थे और पुलिस जमींदारों की मदद करती थी। यह बात इस कविता में इन शब्दों में व्यक्त हुई है -

'जमींदार का गोड़इत
दोनाली लिए हुए
एक खेत फासले से
गोली चलाने लगा।
भीड़ भगने लगी
कांस्टेबल खड़ा हुआ ललकारता रहा।'

निराला ने जिस समय यह कविता लिखी थी उस समय किसान आंदोलन जोरों पर था और जगह-जगह किसानसभाएं सक्रिय थीं। निराला की नजर किसान आंदोलनों पर थी और किसानसभाओं की गतिविधियों तथा सरकार द्वारा उनके दमन पर भी। इस कविता का अंत ऐसे होता है-

'झींगुर ने कहा,
'चूंकि हम किसान-सभा के,
भाई जी के मददगार
जमींदार ने गोली चलवाई
पुलिस के हुक्म की तामील की।
ऐसा यह पेंच है।'

निराला की दृष्टि पूरे किसान समाज पर थी। उनकी एक कम चर्चित पर अत्यंत महत्वपूर्ण कविता है- 'वे किसान की नयी बहू की आंखें'। यह कविता सन् 1938 में लिखी गई और 'द्वितीय अनामिका' में संकलित है। इसमें किसान बहू की मजबूरी, निराशा और वेदना व्यक्त हुई है। निराला ने किसानों के जीवन के समग्र यथार्थ को 'अलका', 'अप्सरा' और 'चमेली' आदि उपन्यासों में भी व्यक्त किया है। इस सबके साथ ही उन्होंने किसान समस्या पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में अनेक निबंध लिखा था जो उनकी रचनावली में मौजूद हैं।

निराला साहित्य की आलोचना में रामविलास शर्मा का क्या योगदान है?

डॉ. रामविलास शर्मा ने कहीं लिखा है कि निराला और उनकी कविता की रक्षा के लिए ही वे आलोचक बने। डॉ. रामविलास शर्मा संभवत: सन् 1938 से निराला की कविता की व्याख्या करने और निराला के महत्व को हिंदी साहित्यिक समाज के सामने लाने का प्रयत्न कर रहे थे। उनका यह प्रयत्न अपने पूर्ण रूप में 'निराला की साहित्य साधना' के तीन खंडों के साथ सामने आता है। जिस समय रामविलास शर्मा ने निराला के पक्ष में लिखना आरंभ किया था उस समय हिंदी में निराला का विरोध अधिक उग्र था। उस उग्र विरोध को देखते हुए रामविलास जी ने निराला की कविता की रक्षा के लिए आलोचनात्मक प्रयत्न शुरू किया। और बाद में उसे व्यापक रूप में व्यवस्थित मूल्यांकन के माध्यम से स्थापित किया। रामविलास जी ने निराला की प्रभावशाली जीवनी लिखी है। उनकी विचारधारा और कला का विस्तृत विवेचन किया है। और उनके पत्रों का संग्रह करते हुए निराला के व्यक्तिगत संबंधों का ब्योरा भी पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है। हिंदी आलोचना का ऐसा उदात्त और आत्मीय संबंध दूसरा नहीं दिखायी देता। रामविलास जी की निराला संबंधी आलोचना से कुछ लोग असहमत हो सकते हैं लेकिन वे भी रामविलास जी के आलोचनात्मक प्रयत्न की उदात्तता और समग्रता के बारे में संदेह नहीं कर सकते। रामविलास जी के लेखन के माध्यम से निराला हिंदी समाज के सामने एक कालजयी कवि के रूप में आते हैं और उनकी अग्रगामी तथा मूलगामी दृष्टि का स्वरूप स्पष्ट होता है।

निराला के गद्य साहित्य में उनकी कविता से भिन्न स्वर हैं। निराला के गद्य साहित्य को आप उस दौर के गद्य लेखन में कहां रखते हैं?

निराला ने पर्याप्त गद्य साहित्य भी लिखा है। उन्होंने उपन्यास, कहानी, निबंध और आलोचनात्मक लेखन का काम किया है। मैं यहां केवल उनके उपन्यास की थोड़ी चर्चा करना चाहता हूं। सन् 1933 ई में निराला ने एक निबंध लिखा जिसका शीर्षक है- 'हिंदी साहित्य में उपन्यास'। इस निबंध में उन्होंने लिखा है- 'जब तक किसी बहते प्रवाह के प्रतिकूल किसी सत्य की बुनियाद पर ठहरकर कोई उपन्यास नयी-नयी रचनाओं के चित्र नहीं दिखलाता, तब तक न तो उसे साहित्यिक-शक्ति ही प्राप्त होती है और न समाज को नवीन प्रवाहमान जीवन, तभी रचना विशेष शक्ति तथा सौदर्य से पुष्ट होकर नवीनता का आवाहन करती है, कला भी साहित्य को नवीन ऐश्वर्य से अलंकृत करती है, कलाकार कला से अधिक महत्व प्राप्त करता है, अथवा वह कला का अधिकारी समझा जाता है, न कि किसी प्रवाह के साथ बहनेवाला, केवल एक अनुसरणकारी।

हिंदी में एक तो नवीन परिवर्तन कोई ऐसा हुआ ही नहीं, दूसरे शिक्षा के अभाव के

कारण खेत भी ऊसर ही पड़ा रहा, यद्यपि प्रकृति उस पर नियमानुसार ही वर्षा करती रही। वहां अधिकांश जंगली वृक्षों तथा बबूलों की ही उपज हुई, कुछ प्रसून भी खिले, जिन्हें जंगली कांटों ने ही रूंध रखा।'

निराला ने उपन्यास की नवीनता और महत्ता की जो कसौटी अपने इस कथन में प्रस्तुत की है उसको ध्यान में रखकर उनके उपन्यासों पर विचार किया जाए तो मुझे उनके दो उपन्यास महत्वपूर्ण लगते हैं। वे उपन्यास हैं- 'कुल्लीभाट' और 'बिल्लेसुर बकरिहा'। ये दोनों उपन्यास कला, यथार्थ चेतना और नवीन उद्भावना की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं और निराला को विशिष्ट उपन्यासकार के रूप में हमारे सामने लाते हैं। इन उपन्यासों में उनका सोच-विचार का स्वरूप भी उनके जमाने से बहुत आगे जाता दिखायी देता है। 'कुल्लीभाट' उपन्यास जितना संस्मरणात्मक है उतना ही आत्मकथात्मक भी और 'बिल्लेसुर बकरिहा' अपनी संरचना, संवेदना, सांस्कृतिक सोच और किसान चेतना के कारण एक महत्वपूर्ण औपन्यासिक कृति है।

बतौर आलोचक आपका मानना है कि निराला 'पूरे अर्थ में एक भारतीय कवि हैं।' क्यों और कैसे?

पूर्ण भारतीय कवि वही होगा जो भारत की प्रकृति, संस्कृति और समाज को संपूर्णता में व्यक्त करे। निराला की कविता में भारत की प्रकृति अपनी संपूर्णता में मौजूद है। निराला ने भारतीय प्रकृति के चित्रण में विभिन्न ऋतुओं से संबंधित बहुत सारी कविताएं लिखीं। उन्होंने वसंत, ग्रीष्म, वर्षा और शिशिर पर जो कविताएं लिखी हैं उनसे भारत की प्रकृति, उस प्रकृति से भारतीय मनुष्य के संबंध की अभिव्यक्ति होती है। किसी भी देश की संस्कृति का वहां की प्रकृति से आत्मीय और गहरा संबंध होता है। भारत में प्रकृति की विविधता बहुत मिलती है और इस विविधता ने भारतीय कविता को भी बहुत गहरे रूप में प्रभावित किया है। मुझे लगता है कि बारहमासा जैसा काव्य-रूप भारतीय कविता से अन्यत्र शायद ही हो। यहां हर दो महीने के बाद ऋतु बदल जाती है इसलिए छः ऋतुएं होती हैं। अनेक देशों में दो या तीन ऋतुएं ही होती हैं। भारतीय आम जन विशेष रूप से किसानों का गहरा संबंध वसंत और वर्षा जैसी ऋतुओं से होता है। इसलिए निराला ने सबसे अधिक कविताएं इन्हीं दो ऋतुओं पर लिखी हैं और उनको भारतीय जन की वास्तविकता और आकांक्षा से जोड़ा है।

निराला जी ने भारतीय संस्कृति से संबंधित अनेक कविताएं लिखी हैं जिनमें विशेष उल्लेखनीय हैं- 'तुलसीदास' और 'राम की शक्तिपूजा'। किसी देश की संस्कृति ऐसी नहीं होगी जिसमें कुछ विकृतियां न हों। भारतीय संस्कृति में जो विकृतियां हैं उन पर भी निराला की दृष्टि है और उन पर भी उन्होंने आलोचनात्मक दृष्टि से कविताएं लिखी हैं।

निराला की कविता की एक विशेषता है- काव्य भाषा के रूपों की अनेकता। अगर कोई व्यक्ति 'भिक्षुक', 'तोड़ती पत्थर', 'जूही की कली', संध्या सुंदरी, 'तुलसीदास', 'राम की शक्तिपूजा' और फिर 'नए पत्ते' की कविताओं की काव्य-भाषा का अध्ययन करे तो उसे निराला की काव्य-भाषा के रूपों की अनेकता का बोध होगा। मेरी समझ में हिंदी में ऐसे तीन कवि हैं जिनकी कविता में काव्य-भाषा की अनेकरूपता मिलती है। वे हैं- तुलसीदास, निराला और नागार्जुन।

सचमुच बड़ा कवि वह होता है जो ऐसी कविता लिखता है जिसमें अर्थ की अपार संभावनाएं होती हैं। बड़ी कविता में प्रायः संदर्भ बदलने के साथ अर्थ बदलने की भी संभावना होती है। मैं यहां निराला की एक कविता का उल्लेख करना चाहता हूं। कविता है- गहन है यह अंधकार।

गहन है यह अंधकार
स्वार्थ के अवगुंठनों से
हुआ है लुंठन हमारा।
खड़ी है दीवार जड़ को घेर कर,
बोलते हैं लोग ज्यों मुंह फेरकर,
इस गगन में नहीं दिनकर,
नहीं शशधर, नहीं तारा।
कल्पना का ही अपार समुद्र यह,
गरजता है घेरकर तनु, रूद्र यह,
कुछ नहीं आता समझ में,
कहां हैं श्यामल किनारा।
प्रिय मुझे वह चेतना दो देह की।
याद जिससे रहे वंचित गेह की,
खोजता फिरता, न पाता हुआ,
मेरा हृदय हारा।'

यह कविता जब लिखी गई थी तब गहन अंधकार का एक अर्थ अंग्रेजी राज था। आजादी के बाद देश में जब आपातकाल लागू हुआ तो उस समय में इस कविता का गहन अंधकार आपातकाल को मूर्त्त करता था। आज के समय में यह गहन अंधकार भारत के तबाह और बर्बाद किसानों की जिंदगी में फैले हुए गहन अंधकार को व्यक्त कर रहा है।

निराला की अनेक कविताएं आज के दौर की राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय राजनीति और इस देश के शासक वर्ग के वर्तमान समय के चरित्र को भी व्यक्त करती हैं। ऐसी कविताओं में दो-तीन का उल्लेख किया जा सकता है। उनकी एक कविता है-

'किनारा वह हमसे किए जा रहे हैं।
दिखाने को दर्शन दिए जा रहे हैं।'

इसके साथ ही एक और कविता है-

'किसकी तलाश में हो इतने उतावले से।' इस कविता के अंत की दो पंक्तियां ये हैं-

'आया मजा कि लाखों आंखों में दम घुटा है,
पटरी है बैठने को गोरे की सांवले से।' ■

PUSTAK VARTA JAN-FEB-2015 FINAL_JULY-AUGUST 2014.qxd 21-06-2015 18:35 Page 10

महाकवि निराला की कविताई: कुछ छवियां

■ गिरीश्वर मिश्र

दुर्दम्य जिजीविषा, अध्यवसाय और संघर्ष के लिए अनवरत तत्पर निराला एक प्रयोगशील कवि के रूप में हिंदी साहित्य के आकाश में उभरे और हिंदी जगत को अपनी रचनाओं से सदा के लिए आलोकित कर गए। उपन्यास, कहानी और निबंध लिखने के बावजूद वे असंदिग्ध रूप से मूलत: एक कवि हृदय रचनाकार थे। उनकी कवि-प्रतिभा का प्रसाद पा कर हिंदी एक नई धज के साथ खड़ी हो सकी। निराला ने काव्य-रूपों में संरचना, भाषा और लय को लेकर जिस वैविध्य और साहस के साथ प्रयोग का जोखिम उठाया वह काव्य-जगत में अभूतपूर्व था, खास कर उस कालावधि में जब ये रचनाएं हिंदी की दुनिया में प्रकट हुईं। वे आज भी टटकी और ताजा लगती हैं और साथ ही किन्हीं अर्थों में निश्चय ही कालातिक्रामी भी। निराला नैसर्गिक प्रतिभा से संपन्न कवि थे जिनके समान तप और बौद्धिक साहस वाले रचनाकार विरल हैं। उन्हें 'छायावादी' माना जाता रहा है पर यह लेबल उनके लिए छोटा पड़ता है। वे ऐसा बहुत कुछ लिखते हैं जो किसी एक वाद के चौखटे के पार चला जाता है। पर यह सब आसान न था। काव्य कला के इस अनूठे साधक को अपने जीवन में अपमान, अनिश्चय, कष्ट और पीड़ा से बार-बार गुजरना पड़ा। जीवन की उठा-पटक में तनाव, ग्लानि, निराशा और पीड़ा झेलते हुए भी वे टूटे नहीं और उनके व्यक्तित्व और सर्जना में स्वाधीनता तथा स्वायत्तता का मूल स्वर अक्षत बना रहा।

निराला का जन्म महिषादल (बंगाल) में हुआ था। पैत्रिक निवास स्थान पश्चिमी उत्तर प्रदेश के बैसवाड़े क्षेत्र का गांव गढ़ाकोला था। बालक सूर्यकांत महिषादल में पले-बढ़े और वहीं धीरे-धीरे बंगला साहित्य से उसका परिचय हुआ। ग्रामीण परिवेश और घर के वातावरण में काव्य के प्रति आकर्षण का कोई विशेष अवसर या उत्साह का स्रोत तो नहीं ही था। औपचारिक शिक्षा दसवीं तक की भी पूरी नहीं थी। निजी अध्यवसाय से उन्होंने अंग्रेजी, हिंदी, संस्कृत और बंगला साहित्य का गहन अध्ययन किया। शुरू में लखनऊ में रहे फिर इलाहाबाद उनका स्थायी निवास बन गया। उनका जीवन आर्थिक तंगी और स्वास्थ्य संबंधी कठिनाइयों से सतत ग्रस्त रहा। बचपन अनेक परिजनों की मृत्यु के संत्रास को झेलते हुए बीता, प्रौढ़ावस्था में पत्नी और कन्या की अकाल मृत्यु जीवन के लिए वज्रपात सिद्ध हुई। उनकी पत्नी मनोरमा देवी हिंदी से भलीभांति परिचित थीं और उन्हें हिंदी की ओर मोड़ने और उसमें अभिरुचि पैदा करने के लिए प्रेरक बनीं।

काव्य-चर्चा के सिलसिले में 'परिमल' की भूमिका में निराला कविता की मुक्ति की बात करते हैं। वे छंदमुक्त काव्य को 'साहित्य में स्वाधीन चेतना फैलाने वाला' मानते हैं और मनुष्य स्वभाव की मुक्ति का उत्स वैदिक काव्य में देखते हैं। वे मानते हैं कि वर्ण, मात्रा, तुक आदि की युक्तियां कविता की स्वच्छंद गति को बाधित करती हैं। निराला के शब्दों में 'मुक्त छंद का समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छंद सिद्ध करता है और उसका नियम-राहित्य उसकी मुक्ति'।

मुक्त छंद की पहली रचना 'जुही की कली' है. यह कविता कली की सुप्ति, जागरण और मिलन का एक रागविद्ध पूर्ण चित्र या कहें प्राकृतिक सौंदर्य के उपादान से मानवीय अनुराग और प्रणय की एक समग्र विम्बात्मक अभिव्यक्ति का अनुभव कराती है। आलोचकों ने इस कविता के आध्यात्मिक आशय को भी पढ़ा है और आत्मा की सुप्ति के बाद जागरण की अवस्था की परिकल्पना देखी है। भाव और भाषा का यह मौलिक प्रयोग सन् 1916 ई. में हुआ था। निराला के सौंदर्य बोध का गरिमामय रूप 'जुही की कली' में दिखायी देता है :

'विजन-वन वल्लरी पर
सोती थी सुहाग-भरी--स्नेह-स्वप्न-मग्न-

निराला खुद अपना अतिक्रमण करते नजर आते हैं। वे काव्य रचना में बंधन और वर्जना की हर कड़ी की उपेक्षा करते हैं। इस अर्थ में उनके कृतित्व में विरोधाभास दिखता है पर वह उनकी सर्वसमावेशी व्यग्रता का भी बोध कराता है। उनके काव्य संबोध्य जो कुछ सृष्टि में उपस्थित है उनके अंदर, बाहर, इर्दगिर्द सब कुछ है। उनके लिए कुछ भी अस्पृश्य नहीं। वे काव्य जगत के अवधूत सरीखे हैं।

अमल-कोमल-तनु तरुणी-जुही की कली,
दृग बंद किए, शिथिल-पत्रांक में
वासंती निशा थी;
बिरह-विधुर-प्रिया-संग छोड़
किसी दूर देश में था पवन जिसे कहते हैं
मलयानिल।'

'जुही की कली' से चली काव्य यात्रा कविता के एक नए रूप 'मुक्त छंद' में शुरू होकर अपने में बहुत कुछ समेटे हुए है।

निराला के कुल तेरह कविता संकलन पचास वर्षों में आए। उनकी काव्य यात्रा को रचना काल और प्रवृत्ति(यों) के बीच समानांतर रख कर देखने की हर योजना छोटी पड़ जाती है क्योंकि उनकी रचनाओं का स्वर आरंभ से ही बहुलता को प्रदर्शित करता है। उनकी कविता के अनेक पक्षों को लेकर चर्चाएं होती रही हैं। छंद मुक्त और छंदबद्ध कविताएं, संगीत के अनुकूल गीत, फारसी और अंग्रेजी के छंद, ध्वनि-चित्र, संगुंफित पदावली, विलक्षण शब्द योजना, संस्कृति की काव्यात्मक प्रस्तुति, जीर्ण का विरोध आदि को लेकर अनेक अध्येताओं ने विवेचन किया है। यह स्पष्ट है कि निराला के काव्य में वैविध्य स्थायी है और मनुष्य की सभी वृत्तियों का गायन उनकी काव्य यात्रा के हर चरण में मौजूद है। उसमें न केवल वर्णन है बल्कि उससे आगे जाकर कुछ नया रचने-रचाने का आग्रह भी है। वे समाज और राजनीति से जुड़े होने पर भी किसी मत या आग्रह से बंधे नहीं हैं। वे जितने प्रयोगवादी हैं उतने ही प्रगतिशील भी। वे हर अवधि में हर किस्म की रचना करते दिखते हैं। निराला की काव्य-यात्रा निरंतर नये प्रयोगों से समृद्ध होती रही। यहां पर उनके काव्य-प्रयोगों की कुछ खास विशेषताओं की ओर ध्यान देना उपयुक्त होगा जो उनकी कविताई के निदर्शक हैं।

तैयब मेहता की एक कलाकृति

सबसे प्रमुख बात निराला की वैचारिक परिधि (रेंज) है। उदाहरण के लिए 'जागो फिर एक बार' में आत्मा की मुक्ति के लिए भास्वर स्वर उभरते हैं। प्राकृतिक सौंदर्य के बहुवर्णी लघु चित्र विस्तार से उपस्थित कर सकल संसार में जागृति की प्रेरणा प्रस्फुटित होती दिखती है। 'महाराज शिवाजी का पत्र' जैसी कविता राष्ट्रीय चेतना के भावों से समृद्ध करती है। 'पंचवटी' गीति नाट्य है। 'परिमल' में एक व्यापक देश काल मुक्त भाव, कलात्मकता के साथ निराला के दार्शनिक स्वरूप का दर्शन होता है। प्रेम, सौंदर्य, कल्पना, प्रकृति, यथार्थ, क्रांति और पौरुष सब उसमें उपस्थित हैं। 'कुकुरमुत्ता' में सामान्य और अति साधारण की प्रतिष्ठा की गई है और आर्थिक पूंजीवादी प्रवृत्ति पर चोट की गयी है। एक सत्यद्रष्टा और स्वप्नद्रष्टा कवि का भारत के जन साधारण का यह चित्र रचना अनूठे शब्द प्रयोग वाली यह कविता भाषा, शिल्प, विन्यास और हास्य - व्यंग्य की दृष्टि से अलग ढंग की एक विशिष्ट रचना है। उनकी प्रसिद्ध पंक्तियां हैं:

'खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतरा रहा है कैपीटलिस्ट'

'तुलसीदास' निराला की कविता-यात्रा का एक महत्वपूर्ण पड़ाव है। इस ओजपूर्ण छंदबद्ध रचना में इतिहास की संस्कृति-चेतना के साथ संस्कृति-सूर्य तुलसीदास का आगमन होता है। लोग सुप्ति को जागरण मान रहे थे। तभी रत्नावली आती है, सौंदर्य

का आकर्षण है पर रत्नावली तुलसीदास को धिक्कारती है। पार्थिव ऐश्वर्य और अज्ञान की रात बीत गई। भारत की महिमा तुलसी की चेतना में जगती है। कवि एक नए समाज के निर्माण के सपने बुनने में संलग्न होता है। रत्नावली 'प्राची दिगंत उर में पुष्कल रवि रेखा' बन कर उपस्थित होती है। 'राम की शक्तिपूजा' में कवि स्वयं तो उपस्थित है ही, समय भी अपनी सारी जटिलता के साथ उपस्थित है जिसके अनेक संकेत कविता में दिखते हैं। कवि ने जीवन की अपनी अनुभूतियों, निराशा, पराजय, संघर्ष और विजय कामना को उपस्थित किया है। पराजित हो कर भी मन पराजय नहीं मानता है और युद्ध और विजय के लिए पुन: सचेष्ट होता है।

'सरोज स्मृति' शोकगीत है। इसमें ऐसे अवसर आते हैं जब लगता है कि कवि विकल है, निराश है। पर वह लौटता है, आगे बढ़ता है। पुत्री के शोक से आहत और बेचैन निराला सामाजिक-आर्थिक बिडंबनाओं, विषमताओं और क्रूरताओं पर भी प्रहार करते हैं। संघर्षों में प्रतिभा पर सान चढ़ती है - सृजन ऐश्वर्य और तीव्रता पाता है:

'बाहर मैं कर दिया गया हूं
भीतर पर, भर दिया गया हूं'

वैयक्तिक पीड़ा और वेदना में सामाजिक अर्थ देखना और उसमें सबको साझीदार बनाना कवि निराला का मुख्य सरोकार है। विद्रोह का स्वर भी निराला के काव्य का एक प्रमुख तत्व है। सामाजिक विषय के प्रति उनकी प्रतिक्रिया निजी स्तर पर अनुभव से जुड़ कर विलक्षण रासायनिक प्रक्रिया से गुजरती है और वे शोषित और पीड़ित के प्रति एक उदार दृष्टि, संवेदना और करुणा वाले एक सच्चे जनकवि के रूप में उभरते हैं। वे समाज की विसंगति, शोषण, अत्याचार, अन्याय और भेद-भाव के प्रति चिंता, आक्रोश और प्रतिरोध की आवाज बनते हैं। वे असंदिग्ध रूप से उभरते पूंजीवाद के आलोक में सर्वहारा वर्ग के प्रति सचेत थे। राष्ट्रीय जागरण की बेला में समाज की यह चिंता स्वाभाविक थी। वे सामाजिक विकृतियों का निजी जीवन और कविता दोनों में ही विरोध करते नजर आते हैं। 'झरे जाति कुल वर्ण पर्ण, धन' जैसी पक्तियां समाज की विषमता के प्रति तीव्र आक्रोश की ही भावाभिव्यक्ति हैं। 'अनामिका' की 'तोड़ती पत्थर' कविता आर्थिक विषमता के कारण पीड़ित श्रमशील नारी की भावना, सौंदर्य और जिजीविषा को रेखांकित करती है:

'वह तोड़ती पत्थर
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर
कोई न छायादार पेड़ वह जिसके तले
बैठी हुई, स्वीकार
श्याम तन, भर बंधा यौवन
नत नयन, प्रिय कर्म-रत-मन
गुरु हथौड़ा हाथ
करती बार बार प्रहार
सामने तरु मालिका अट्टालिका प्राकार
देखते देखा मुझे, तो एक बार
उस भवन की ओर देखा, छिन्नतार.
देखकर कोई नहीं,
देखा मुझे उस दृष्टि से,
जो मार खा रोई नहीं.
सजा सहज सितार
सुनी मैंने वह, नहीं जो थी सुनी झंकार'

कविता में निराला के शब्द-प्रयोग बड़ी सहजता लिए होते हैं। 'स्पोनटेनिटी' ऐसी कि लगता है कि वही अनिवार्य है। शब्दों के साथ छेड़छाड़ की कोई गुंजाइश नहीं बचती। उनका विस्थापन लगभग असंभव है। हर शब्द का अपना अलग-अलग व्यक्तित्व झलकता है।

निराला शोषण रहित समाज का स्वप्न लिए किसान, मजदूर, स्त्री, भिखारी और दलित की पीड़ा को निरंतर स्वर देते रहे। 'भिक्षुक' का यह चित्र कभी भूलता नहीं है और हिंदी के सामान्य पाठक को भी बेचैन करता रहता है-

'दो टूक कलेजे के करता
पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिल कर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक
मुट्ठी भर दाने को,
भूख मिटाने को
मुंह फटी पुरानी झोली का फैलाता।'

निराला के काव्य में प्रकृति का नैसर्गिक रूप बार बार उपस्थित होता है। 'सांध्य काकली' में संग्रहीत इन कविताओं में ध्वनि, अनुभव, संवेग और लय का बड़ा दुर्लभ संयोग है। वर्षा का यह चित्र वर्षा को सामने साकार कर देता है-

'झर-झर-झर निर्झर-गिरि-सर में
घर, मरु, तरु-मर्मर, सागर में,
सरित-तड़ित-गति-चकित पवन में
मन में विजन गहन-कानन में
आनन-आनन् में रव-घोर-कठोर
राग अमर! अंबर में भर निज रोर!'

निराला की कविता में निर्माण का स्वर भी है। मातृभूमि पर उनकी कविता देखें -

'भारति जय विजय करे !
कनक-शस्य-कमल धरे !

लंका पद-तल-शतदल
गर्जितोर्मि सागर जल
धोता शुचि चरण युगल
स्तव कर बहु - अर्थ भरे'

निराला जीवन भर लड़ते और जूझते रहे। उनका जीवन-संघर्ष काव्य में सर्जनात्मक रूप में अभिव्यक्त हुआ है। प्राय: सभी समीक्षकों ने उसे लक्षित भी किया है। पर महत्वपूर्ण यह है कि उनके कृतित्व में कहीं भी किसी प्रकार का समझौता, पलायन या विवशता नहीं दिखती। उनकी रचनाओं को पढ़ते हुए पाठक को हमेशा यही अनुभूति होती है कि इस मुकाम पर काव्य और जीवन एकाकार हैं। दोनों एक-दूसरे में संगुंफित हैं।

इन पंक्तियों पर दृष्टिपात करें -

'दुखता रहता है अब जीवन;
पतझड़ का जैसा वन-उपवन।
झर-झर कर जितने पत्र नवल
कर गए रिक्त तनु का तरुदल,
हैं चिन्ह शेष केवल संबल,
जिनसे लहराया था कानन।
डालियां बहुत सी सूख गयीं,
उनकी न पात्रता हुई नयी,
आधे से ज्यादा घटा विटप
बीज को चला है ज्यों क्षण-क्षण।
यह वायु बसंती आयी है
कोयल कुछ क्षण कुछ गायी है
स्वर में क्या भरी बधाई है,
दोनों ढलते जाते उन्मन।'

निराला आवश्यकतानुरूप परंपरित भाषा, विषय- सब में परिवर्तन और प्रयोग करते हैं। इस उपक्रम में निराला की रचनाओं में तेजस्विता आती है और वे उत्कृष्ट से उत्कृष्टतर रचना देते हैं जो आश्वस्त करती है। काव्य-प्रवाह ऐसा कि प्रयोग सहज स्वाभाविक लगता है- कहीं भी बाहर से आयातित या थोपा हुआ या असमंजस नहीं लगता। वे बड़े विस्तृत और गहरे थहाते हुए से चलते हैं। उनकी कविता हिंदी काव्य जगत की एक मूल्यवान और विलक्षण उपलब्धि है- अर्थ, रचना-सौष्ठव, लय आदि सभी दृष्टियों से निराला की छोटी कविता हो या गीत या फिर लंबी कविता -उसमें ऊष्मा, तरलता और गेयता का आकर्षक पुट मिलता है और पाठक चकित हो जाता है। यहां तक कि प्रयोगवादी किस्म की उनकी कविता में भी गेयता उपस्थित है।

कविता में निराला के शब्द-प्रयोग बड़ी सहजता लिए होते हैं। 'स्पोनटेनिटी' ऐसी कि लगता है कि वही अनिवार्य है। शब्दों के साथ छेड़छाड़ की कोई गुंजाइश नहीं बचती। उनका विस्थापन लगभग असंभव है। हर शब्द का अपना अलग-अलग व्यक्तित्व झलकता है। शब्द-उच्चारण में वास्तविक ध्वनि, जो संदर्भित परिस्थिति में है, सामने उपस्थित हो जाती है। शब्द-रचना एक व्यापक विस्तार में है। छोटे, संश्लिष्ट, लंबे निर्मित शब्द - सब का प्रयोग किया गया है। तत्सम शब्दों की बहुलता है पर सरल और देशज शब्द भी खूब फबते नजर आते हैं। कविता की गतिमयता और लयबद्धता उन्हें गुनगुनाने के लिए सुरक्षित कर देती हैं। शब्द की गरिमा सचमुच देखने लायक है।

निराला खुद अपना अतिक्रमण करते नजर आते हैं। वे काव्य रचना में बंधन और वर्जना की हर कड़ी की उपेक्षा करते हैं। इस अर्थ में उनके कृतित्व में विरोधाभास दिखता है पर वह उनकी सर्वसमावेशी व्यग्रता का भी बोध कराता है। वह उस सबसे जुड़े हैं जो सृष्टि में उपस्थित है उनके अंदर, बाहर, इर्दगिर्द, सब कुछ है। उनके लिए कुछ भी अस्पृश्य नहीं। वे काव्य जगत् के अवधूत सरीखे हैं। पर जीवन भी कभी सीधी या लीनियर रेखा में नहीं चलता वह सद्य:घटित होती 'इमर्जेंट रिअलिटी' से बनता है अर्थात कुछ अज्ञात, अनुपस्थित और अचिंत्य भी जीवन में होता है। जीवन तो संभावनाओं का नाम है और वह अचिंत्य की संहति होता है।

यह भी ध्यातव्य है कि निराला की कविता का आरंभ औपनिवेशिक भारत में होता है और यह काव्य-यात्रा स्वतंत्र भारत में एक दशक तक चलती रहती है। यह परिवर्तन का काल है। विषयों में अत्यंत व्यापक काव्य कर्म जिसमें 'जुही की कली', 'गर्म पकौड़ी', 'कुकुरमुत्ता', 'बादल राग', 'तुलसीदास', 'राम की शक्तिपूजा' और 'सरोज स्मृति' जैसी रचनाएं शामिल हैं एक बहुविध शैली में ग्रंथित है। निराला एक जिम्मेदार कवि के रूप में उपस्थित होते हैं, जो काव्य की आंतरिक संगति के प्रति जितना सतर्क है उतना ही समाज या बाह्य जगत के प्रति भी न केवल उन्मुख है वरन उससे सहज रूप से जुड़ा हुआ है। आरंभ में उनके कवि रूप का समीक्षकों द्वारा स्वागत नहीं किया गया। बाद में उनका लोहा माना गया। उन्हें इसकी पीड़ा रही जिसकी ध्वनि अनेक कविताओं में मिलती है।

निराला कवि कर्म से बंध कर रहना नहीं चाहते। एक टेंशन या द्वंद्व हमेशा बना रहता है। निराला किसी भी तरह के बंधन को स्वीकार नहीं करते और अपनी राह खुद बनाते चलते हैं, जमीन तोड़ते हैं, जो है उससे असंतुष्ट हैं और उसे अपर्याप्त मानते हुए नया गढ़ते हैं। दूसरी ओर जीवन में जो कुछ है, आस-पास और दूर भी वह सब कुछ उनका संबोध्य बन जाता है। इसलिए उनकी काव्य रचना का फलक व्यापक है और उनकी संवेदना गहरी। निराला के तेवर निराले हैं और काव्य की छवि बहुरंगी है। वे न केवल परंपराप्राप्त छंद विधान में निखार लाते हैं बल्कि नए विधान का मार्ग भी प्रशस्त करते हैं। हिंदी काव्य के वे एक ऐसे प्रस्थान-बिंदु हैं जिसने हिंदी जगत् में मुक्ति की चेतना और प्रेरणा उत्पन्न की। अपराजेय व्यक्तित्व के धनी एवं असाधारण प्रतिभासंपन्न कवि निराला के ऐतिहासिक योगदान का यह एक बड़ा प्रमाण है। ■

PUSTAK VARTA JAN-FEB-2015 FINAL_JULY-AUGUST 2014.qxd 21-06-2015 18:35 Page 14

स्मरण

निराला में यथार्थ कथन और आध्यात्मिकता

■ नंदकिशोर नवल

निराला की ओर स्कूल के दिनों में ही मेरे मित्र सिद्धिनाथ मिश्र ने मुझे उन्मुख किया था, लेकिन तब मैं निराला को समझने की स्थिति में नहीं था। मैं 'गीतिका' के गीत बार-बार पढ़ता था और सिर्फ कुछ सुंदर पंक्तियों को रेखांकित करके रह जाता था। जब मैं बी.ए. करके एम.ए. में पहुंचा तो निराला को रुचिपूर्वक पढ़ने लगा। रिसर्च के दिनों में त्रिलोचन ने मेरी बहुत सहायता की। निराला की जो कविताएं बंद ताले की तरह थीं, उन्हें मेरे लिए खोल दिया। उन्होंने मुझे 'सरोज स्मृति' और 'राम की शक्तिपूजा' भी पढ़ाई। एम.ए. में ही मैंने तय किया था कि हिंदी के तीन आधुनिक महान कवियों पर काम करूंगा। निराला के काव्य विकास को मैंने शोध का विषय बनाया। लेकिन बाद में पाया कि उसमें दूसरे हाथ की जो भी सूचनाएं थीं वो गलत थीं। इसलिए मैंने नेशनल पब्लिशिंग हाउस से पांडुलिपि मंगा ली और यथासमय 'निराला: कृति से साक्षात्कार' नामक पुस्तक लिखी। कृति पर मैंने इसलिए जोर दिया कि निराला की कविताओं का पाठ सबसे दुरूह है। स्वभावत: मैं भी उसी से जूझा। उसके पहले मैं 'मुक्तिबोध: ज्ञान और संवेदना' लिख चुका था। बाद में तीसरे महत्तर कवि पर 'मैथिलीशरण' नामक पुस्तक लिखी।

निराला काव्य के तीन स्तर हैं और वे तीनों स्तर अपने आप में स्वतंत्र हैं। निराला पहले छायावादी स्तर पर सक्रिय होते हैं, फिर अपने मध्यवर्त्ती दौर में यथार्थ के स्तर पर और अंतिम दौर में वे फिर गीत लिखने लगते हैं। आलोचकों ने उनके परवर्ती गीतों की संवेदना और संरचना न समझ पाने के कारण उनमें उनका प्रत्यावर्तन देखा है।

निराला काव्य के तीन स्तर हैं और वे तीनों स्तर अपने आप में स्वतंत्र हैं। निराला पहले छायावादी स्तर पर सक्रिय होते हैं, फिर अपने मध्यवर्त्ती दौर में यथार्थ के स्तर पर और अंतिम दौर में वे फिर गीत लिखने लगते हैं। आलोचकों ने उनके परवर्ती गीतों की संवेदना और संरचना न समझ पाने के कारण उनमें उनका प्रत्यावर्तन देखा है। वस्तुत: विश्वास नहीं होता कि जिस कवि ने 'राम की शक्तिपूजा' की रचना की उसी ने 'कुकुरमुत्ता' और फिर अर्चना आराधना के गीतों की। इसी संदर्भ में नंददुलारे वाजपेयी के कथन को देखना चाहिए। ऐसा बहुस्तरीय विकास किसी अन्य छायावादी कवि में नहीं दिखलाई पड़ता।

डॉ. रामविलास शर्मा संकीर्ण मार्क्सवादी थे इसलिए लेनिन की अंर्तविरोध वाली दृष्टि से ही संपूर्ण साहित्य पर विचार करते थे। सच्चाई यह है कि निराला में यथार्थ कथन और आध्यात्मिकता शुरू से रहे हैं। उनके छायावादी गीतों में ही अपने ढंग का यथार्थवाद मिल जाएगा और उनके परवर्त्ती और मध्यवर्त्ती कृतियों यथा 'अणिमा' और 'बेला' में आध्यात्मिकता भी। उनके अंतिम काल के गीतों में तो ये सारे तत्व हैं- आत्मपरकता, स्वतंत्र भारत की दुर्दशा का चित्रण और भक्ति भाव।

जहां तक स्वतंत्रता आंदोलन में निराला की सक्रियता का सवाल है, निराला कवि थे, इसलिए उनके अस्त्र शब्द थे। वे शब्द की महिमा से परिचित थे और अपने छायावादी काव्य में जो उन्होंने व्यक्ति स्वातंत्र्य और कल्पनाशीलता का परिचय दिया, वह स्वाधीनता आंदोलन में उनका योगदान था।

संप्रेषणीयता की कसौटी पर यदि हम हिंदी के तीन बड़े कवियों- मैथिलीशरण गुप्त, निराला और मुक्तिबोध की तुलना करते हैं तो हमें ध्यान रखना होगा कि संप्रेषणीयता एक तरह की नहीं होती है। प्रसाद की संप्रेषणीयता बच्चन वाली नहीं है, न निराला की संप्रेषणीयता पंत वाली और न मुक्तिबोध की संप्रेषणीयता नागार्जुन वाली। संप्रेषणीयता एक सापेक्ष शब्द है। जो निराला मेरे लिए संप्रेषणीय हैं, वे नेपाली जैसे कवि के लिए असंप्रेषणीय थे।

निराला का गद्य दो प्रकार का है। उनमें से एक प्रकार का गद्य उनके पूर्ववत्ती उपन्यासों और कहानियों में दिखाई पड़ता है और दूसरे प्रकार का गद्य म्यान से बाहर निकली हुई तलवार की तरह- 'कुल्लीभाट' और 'बिल्लेसुर बकरिहा' जैसे बेजोड़ उपन्यासों और 'चतुरी चमार' जैसी कहानी में दिखायी पड़ता है। आप सिर्फ 'चतुरी चमार' कहानी पढ़कर देखें, इसका गद्य प्रेमचंद से भी आगे है और

ऐसा गद्य हिंदी में फिर किसी ने नहीं लिखा। 'बिल्लेसुर बकरिहा' तो अपनी भाषा और चरित्र के कारण मेरी सीमित दृष्टि में संसार की भाषाओं में एक अप्रतिम उपन्यास है। मेरी बात से जे.एन.यू. के एक अंग्रेजी के प्रोफेसर सहमत हैं, जिन्होंने इस उपन्यास का अंग्रेजी में अनुवाद किया है।

हिंदी में हर नए रचनाकार को नए रुचि के निर्माण के लिए आलोचना लिखनी पड़ी है- प्रेमचंद हों या प्रसाद, पंत हों या निराला या फिर अज्ञेय या मुक्तिबोध- रचनाकार आलोचक की सबसे बड़ी सीमा यह होती है कि इसकी दृष्टि आत्मपरक होती है जिससे संपूर्ण साहित्य की परीक्षा नहीं की जा सकती। उसकी विशेषता यह है कि उसकी आलोचना की भाषा अनौपचारिक यानी पारिभाषिक शब्दावली से मुक्त होती है। ऊपर जो नाम गिनाए गए हैं वे सभी रचनाकार अपनी सीमा में महत्वपूर्ण हैं।

जो लोग मुक्तिबोध को सर्वश्रेष्ठ आलोचक मानते हैं वे उनकी आत्मपरकता को नहीं देखते। मुक्तिबोध कवि रूप में जितने ही उदार थे आलोचक के रूप में उतने ही संकीर्ण। इसका सबसे अच्छा उदाहरण है- 'कामायनी : एक पुनर्विचार' नामक उनकी पुस्तक है, जिसमें उन्होंने 'कामायनी' जैसी कालजयी कृति को अपनी संकीर्ण कसौटी पर चढ़ा कर खारिज कर दिया।

कुछ दलित लेखक निराला की कविता का विरोध करते हैं। दरअसल दलित लेखक हमारी साहित्यिक परंपरा के लेखक नहीं हैं, इसलिए उनसे परंपरा संबंधी उचित ज्ञान की अपेक्षा नहीं की जा सकती। वे चाहते तो हिंदी साहित्य की परंपरा से अपने को जोड़ कर उसे एक नया आयाम दे सकते थे। दु:खद यह है कि वे उक्त परंपरा को न समझना चाहते हैं, न उससे अपने को जोड़ना। वे प्रेमचंद की 'सद्गति', 'ठाकुर का कुंआ', 'कफन' जैसी महान रचनाओं की भी गलत व्याख्या करते हैं। यही बात

सुमन सिंह की एक कलाकृति

निराला की कविता 'तोड़ती पत्थर' पर भी लागू होती है। बहुत दिनों की बात नहीं है, दलित लेखकों ने प्रेमचंद की पुस्तकें जलाई थीं, जैसे रामायण मेला लगाने वाले डॉ. लोहिया के अनुयायियों ने 'रामचरितमानस' के साथ होली खेली थी, उसे जलाकर।

इधर मुझे पता चला है कि कुछ आदिवासियों और दलित लेखक निराला की 'राम की शक्तिपूजा' को उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना न मानकर 'कुकुरमुत्ता' को उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना मानते हैं। 'कुकुरमुत्ता' भी एक महत्वपूर्ण कृति है, जिसमें निराला ने संकीर्णतावादी मार्क्सवाद का प्रतिनिधि कुकुरमुत्ता को बनाया है, जो सामंती संस्कृति के प्रतीक गुलाब की देन को एक सिरे से नकारता है।

निराला डॉ. रामविलास शर्मा के प्रशंसक थे लेकिन उनकी संकीर्णतावादी मार्क्सवादी दृष्टिकोण को भी खूब पहचानते थे। 'कुकुरमुत्ता' को निराला की सर्वश्रेष्ठ कविता मानने वालों के लिए मैं गालिब का ये शेर दोहराता हूं-

'वो न समझें हैं न समझेंगे हमारी बात
दे और दिल उनको न दे गर मुझको जुबां और।'

हिंदी की पांच कालजयी कविताएं हैं- प्रलय की छाया (प्रसाद), राम की शक्तिपूजा (निराला), अंधेरे में (मुक्तिबोध), असाध्य वीणा (अज्ञेय) और मुक्तिप्रसंग (राजकमल चौधरी)।

पूरी नई पीढ़ी को अपनी परंपरा से कोई मतलब नहीं है। वह अपनी लिखी चीज पढ़ती है या अपने मित्रों और शत्रुओं की लिखी। उसे एक बार टी. एस. इलियट का लेख 'ट्रेडिशन एंड इंडिविजुअल टैलेंट' भी पढ़ना चाहिए। ■

(वेंकटेश द्वारा की गई बातचीत पर आधारित)

PUSTAK VARTA JAN-FEB-2015 FINAL_JULY-AUGUST 2014.qxd 21-06-2015 18:35 Page 16

फ्रांसिस-मिलना

फ्रांसिस-मिलना था।
रामलाल से कहा।
उमड़ पड़े रामलाल।
बोले, "कुछ ठहरो, फिलहाल
गाड़ी तैयार नहीं,
यार, कहीं
ठोकर खा जाओगे,
कौन कहे, ऐसे ही लौट यहां आओगे।
कड़ नाले पड़ते हैं,
उतरते चढ़ते हैं
नौजवान,
देहाती, पहलवान
थकते हैं,
तन्दुरुस्त छकते हैं।
गाड़ी से चलेंगे।
दद्दे की

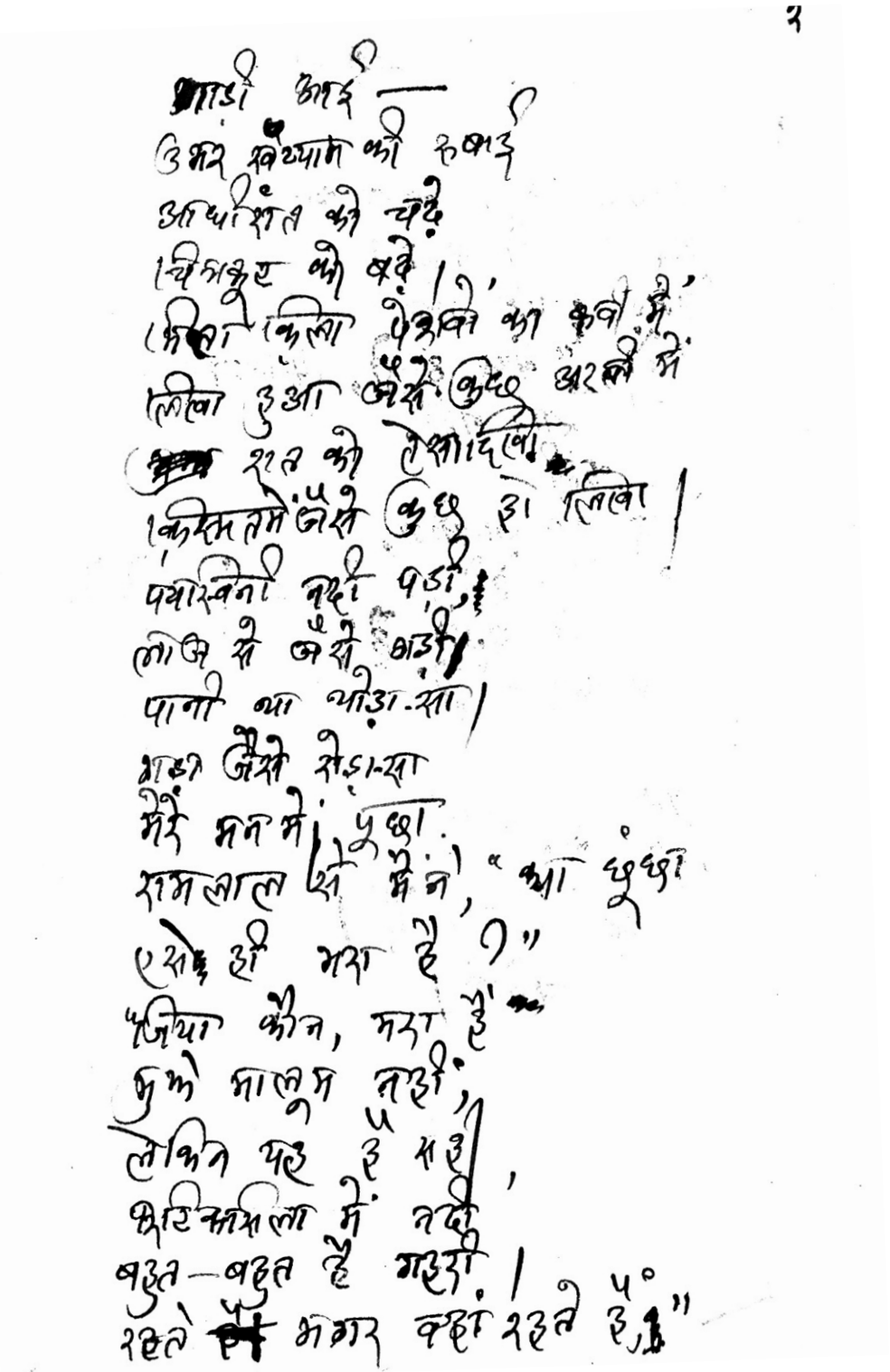

पं. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की हस्तलिपि में उनकी यह कविता स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में संरक्षित है।

PUSTAK VARTA JAN-FEB-2015 FINAL_JULY-AUGUST 2014.qxd 21-06-2015 18:35 Page 18

समीक्षा

आधुनिक चाणक्य या आधुनिक कौटिल्य

■ **अरविन्द मोहन**
वरिष्ठ पत्रकार

संपर्क: ए-504, जनसत्ता सोसाइटी, सेक्टर-9, वसुंधरा, गाजियाबाद-201012

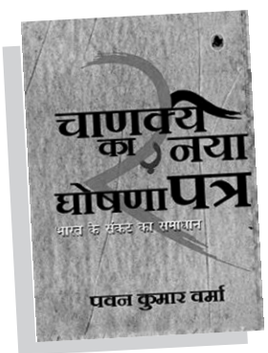

पुस्तक: चाणक्य का नया घोषणापत्र
लेखक: पवन कुमार वर्मा
प्रकाशक: राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2014
मूल्य: ₹ 395

कुल 354 सुझावों या समाधानों के साथ अगर कोई अधिकारी भारत के हर मर्ज की दवा परोसने का दावा करे तो उस पर सहज भरोसा करना मुश्किल है। और फिर इन सुझावों से बनी किताब को चाणक्य का नया अर्थशास्त्र बताने का प्रयास करे तो यह भी चौंकाने वाली चीज है। लेकिन यह अधिकारी पढ़ने-लिखने वाला, देश-दुनिया समझने वाला और अनुभवी पवन कुमार वर्मा हो तो उसकी किताब को न देखना और उसके सुझावों पर गौर न करना भी मुश्किल ही है। और यह दबाव तब और बढ़ जाता है जब 'चाणक्य का नया घोषणापत्र' अंग्रेजी में 'चाणक्याज न्यू मेनिफेस्टो' नाम से छपकर पर्याप्त चर्चित हो चुका हो। विदेश सेवा के अधिकारी और अब राज्य सभा के सदस्य पवन वर्मा लगातार लिखने-पढ़ने वाले व्यक्ति हैं। उन्होंने उपन्यास, कविता, मियां गालिब की जीवनी से लेकर महाभारत के कई पहलुओं पर किताबें लिखी हैं। इनकी किताब 'द ग्रेट इंडियन मिडल क्लास' तो धूम मचा चुकी है। वह किताब हिंदी में आई पर उस हिसाब से यहां चर्चा नहीं हुई थी। उम्मीद करनी चाहिए कि इस नई किताब के सुझावों पर तो कम से कम ढंग की चर्चा हो जाए।

पर यह समझना मुश्किल है कि लेखक को राजनीति या शासन नीति का मसला इतना हल्का क्यों लगता है और इस क्षेत्र में उन्हें सीधे चाणक्य क्यों याद आए। मैकियावेली की किताब 'द प्रिंस' को पश्चिमी जगत आधुनिक शासन शास्त्र की शुरुआत मानता है। मैकियावेली को बहुत चतुर और काम निकालने की व्यावहारिक बुद्धि वाला माना जाता है। पर हम जानते हैं कि उससे कम से कम 1800 साल पहले हमारे यहां महापंडित चाणक्य ने लगभग 6000 श्लोक और सूत्रों वाली किताब 'अर्थशास्त्र' लिखी थी। यह महज किताब नहीं थी। चाणक्य ने अन्यायी नंद वंश का नाश करके एक अज्ञात कुल-शील के बालक चंद्रगुप्त मौर्य से एक विशाल भारत और न्यायपूर्ण शासन व्यवस्था की नींव रखवाई थी और इसी सिलसिले में आगे सम्राट अशोक जैसा विलक्षण शासक पैदा हुआ। चाणक्य की किताब इस अनुभव, एक लंबे चिंतन और एक बड़े विद्वान के जीवन भर की 'कमाई' का सार है।

चाणक्य का उद्देश्य क्या था, उसने कैसा जीवन जिया और फिर उसने किस तरह राज-काज से हाथ झाड़ लिया यह सब यहां बताने की जरूरत नहीं है। पवन वर्मा अपनी किताब के जरिये उस महान आत्मा को श्रद्धांजलि देते हैं, पर वे यह बात क्यों भूल गए हैं कि भारतीय समाज एक ठीक-ठाक शासन पद्धति से पहले भी चल रहा था- हिंदू पोलिटी आज भी इतिहास और राजनीति शास्त्र में पढ़ाई का विषय है। और चाणक्य ने अगर चीजों को व्यवस्थित, कठोर, नियमबद्ध और व्यावहारिक बनाया और चलाकर दिखाया तो इसी भारतीय समाज ने उसे कौटिल्य का भी नाम दे दिया। इसलिए लेखक का यह कहना जंचा नहीं कि मैकियावेली तो कुटिलता और चालाकी वाला था और हमारा चाणक्य बहुत न्यायपूर्ण और आदरणीय! कौटिल्य शब्द कुटिलता से ही आया है और भारतीय समाज और दर्शन के लिए राज-काज एक ऐसा ही विषय रहा है।

जाहिर है पवन वर्मा कौटिल्य की श्रेणी के नहीं हैं और न उनके लिए नाम बदलने या नाम बदनाम होने का खतरा है और न ही आज का देश और राजनीति दो-ढाई हजार साल पहले वाली है। समय बीतने के साथ यह भी हुआ है कि काफी मूल्य बदले हैं और हमारी ही नहीं दुनिया की राजनीति में लोकतंत्र, कानून का राज, लोगों के मौलिक अधिकार और शासन की साफ सीमाओं के बारे में भी समझ और चलन बन गए हैं। आज कठोर से कठोर तानाशाही वाले शासन भी दिखाने को ही सही, अपने यहां स्थानीय चुनाव कराते हैं या अपने फैसलों पर लोकतंत्र का मुलम्मा चढ़ाने का प्रयास करते हैं। अपने यहां तो झमाझम लोकतंत्र चल ही रहा है, बल्कि बीते 67 सालों में यह काफी मजबूत हुआ है, इसने कई संकटों को झेला है। पर यह भी हुआ है कि राष्ट्रीय आंदोलन का जोर उतरने के बाद भारतीयता और

भारतीय मूल्यों का जोर कम हुआ और आजाद भारत की सरकारें उत्तरोत्तर पश्चिम और अमेरिकापरस्त होती गईं। अगर संसदीय लोकतंत्र के रूप में हमें पश्चिम से एक ढंग की चीज मिली, जिसे हमने अपने अनुभव और संघर्षों से और मजबूत किया है, तो कई सारी बीमारियां भी मिली हैं, पूरा जीवन मूल्य बदला है। ऐसे में पवन वर्मा को लोकतंत्र में नए विचारों के पीछे छूट जाने की जो चिंता है और जिन्हें समकालीन दौर में चल रही प्रक्रियाओं में भागीदारी की इच्छा होती है (यह किताब भी उसी इच्छा का प्रमाण है) तो उनका स्वागत है और ऐसी इच्छा से अगर वे भारत के लिए एक पूरा एजेंडा तय करते हैं तो उसका भी स्वागत होना चाहिए।

पर कई मुश्किलें भी हैं। एक तो सभी समस्याओं और उनके कारणों की जानकारी प्राप्त करना कम कठिन नहीं है दूसरे, हमारी अपनी परंपराओं में भी कम गड़बड़ नहीं है। कई गड़बड़ियां तो हजारों साल से चल रही हैं और किसी के कान पर जूं भी नहीं रेंगता। कई चीजें पूरब और पश्चिम के मूल्यों की टकराहट से सामने आई हैं या पुरानी चीजें और विकृत हुई हैं। साथ ही कई चीजों में सुधार भी हुआ है। साफ है कि किसी एक लेखक और व्यक्ति के लिए यह सब जानना और समझना संभव नहीं है। सो, अगर पवन वर्मा ने किताब लिखने की हिम्मत की है तो जाहिर तौर पर उन्होंने काफी अध्ययन किया होगा। यह चीज किताब में भी दिखती है लेकिन उनके अध्ययन-चिंतन की सीमा भी दिखाई देती है। कहने का अर्थ यह है कि ज्यादातर गड़बड़ियां तो हमारी हैं अर्थात् भारतीय और पूर्वी समाज की हैं। पर लेखक का नजरिया एकदम पूर्वी नहीं है। सो समस्याएं देसी और समाधान विलायती जैसा असंतुलन साफ दिखता है। पर बदलाव की जिस बुनियादी जरूरत के साथ उन्होंने ये सुझाव दिए हैं उनसे असहमत होना असंभव है। हां इस बात के लिए भी श्री वर्मा की तारीफ करनी चाहिए कि उन्होंने मुख्यत: उन्हीं विषयों पर ध्यान केंद्रित किया है जो अर्थशास्त्र के विषय हैं- शासन प्रबंध,

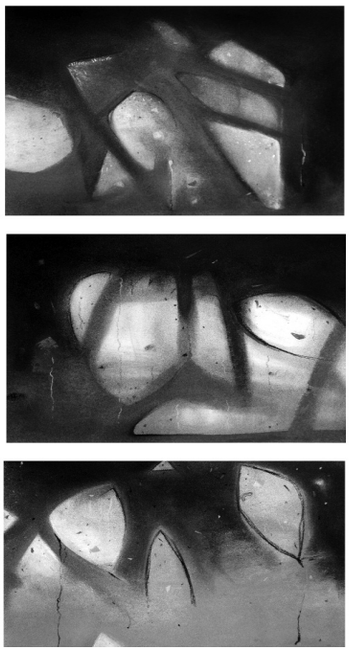

जे पी त्रिपाठी की एक कलाकृति

मंत्रियों का आचरण, सुरक्षा, खुफिया व्यवस्था, भ्रष्टाचार, लोकतंत्र और विदेश नीति वगैरह। कहना न होगा कि इन मामलों के भटकाव, समय-समय पर दी गई जानकारियां, सुधार के सुझाव और एक बिल्कुल नई सोच वाला समाधान देना आसान काम नहीं है।

लेखक का दावा है कि यह पुस्तक इस कल्पना के साथ लिखी गई है कि अगर चाणक्य आज होते तो मौजूदा समस्याओं का समाधान कैसे करते। पर यह सोचना उचित नहीं है। चाणक्य की कौन कहे आज तो राष्ट्रपिता कहलाने वाले गांधी बाबा ही 67 साल बाद आ जाएं तो शायद उन्हें फिर से नया राष्ट्रीय आंदोलन छेड़ना पड़ जाए। और आज के समाज में वैसे हजारों कार्यकर्ता और नेता जमा करना मुश्किल हो जाए। चाणक्य बेचारे को तो मायावी पूंजी के इस दौर में, जहां वर्चुअल ही रियल पर भारी पड़ गया है, अपना अर्थशास्त्र भूलना पड़ जाता। सो इन महापुरुषों को याद करना जरूरी है, उनके योगदान को समझना जरूरी है और ज्यादा कुछ नहीं तो उसी भावना के साथ अपनी बात रखना जरूरी है। वर्मा जी ने कोई चूक की हो ऐसा नहीं है, पर कोई बहुत साफ राजनीतिक और आर्थिक सोच रखे बगैर व बदलाव की इच्छा के बिना हर क्षेत्र के लिए सुझाव देने का भी कोई मतलब नहीं है। पर यह भी सही है कि उन्होंने सारी अर्थनीति को हिंद महासागर में डुबोने, पूरी फौज को समाप्त करने या उसी के हाथ में शासन के मुख्य सूत्र देने, संसदीय लोकतंत्र की जगह राष्ट्रपति प्रणाली या आनुपातिक प्रतिनिधित्व को ज्यादा बढ़िया बताने जैसे ऊटपटांग सुझाव भी नहीं दिए हैं। एक बहुत सामान्य और व्यावहारिक ढंग से भारत की मुख्य समस्याओं को रेखांकित करते हुए उन्होंने अपने समाधान और सुझाव सूत्र रूप में दिए हैं।

पर समस्या को स्थापित करने और समाधान की दिशा तय करते हुए वे जिन अखबारी लेखकों के बहुत ही औसत किस्म के उद्धरणों का सहारा लेते हैं, या रोब गालिब करने भर के लिए कुछ नाम देते हैं उससे बहुत अच्छे समाधानों की आस नहीं बंधती। फिर उनके नजरिए और अपने नजरिए में भी वे नई आर्थिक नीतियों के समर्थक, इसी चुनावी व्यवस्था को दुरुस्त करके चलाने के हामी और भ्रष्टाचार दूर करने के पक्षधर हैं। लेकिन हमने देखा है कि चुनाव आयोग की सारी सख्ती, दलबदल कानून, लोगों में लोकतंत्र की भूख बढ़ने और एक से एक तकनीकी विकास के बावजूद चुनाव व्यवस्था बिगड़ी है, संसद-विधानसभाओं में पैसे वालों और अपराधियों का बोलबाला हुआ है, भ्रष्टाचार बढ़ता ही गया है। सो अब फिर से चुनाव आयोग को मजबूत करने, अदालतों को अधिकार देने और संपत्ति की घोषणा जैसे सुझावों का क्या मतलब रह जाता है। खैरियत यही है कि पवन वर्मा लोकपाल जैसे किसी नए ढकोसले की वैसी वकालत नहीं करते जैसा अन्ना आंदोलन के बाद फैशन बन गया था। वे प्रतिनिधि-वापसी जैसे सुझाव देते हैं। पर आर्थिक नीति हो या सामरिक, लोकतंत्र हो या शासन तंत्र, उनमें शायद इतने हल्के और ऊपरी बदलाव से ज्यादा बात नहीं बनेगी। अनुवाद बहुत हल्का है और जगह-जगह खराब भी है। ■

PUSTAK VARTA JAN-FEB-2015 FINAL_JULY-AUGUST 2014.qxd 21-06-2015 18:35 Page 20

समीक्षा

भूख के व्याकरण से जुड़े कुछ सवाल

शैलेश कुमार राय
शिव प्रकाश यादव
कर्मवीर
पल्लवी

संपर्क: जर्मन भाषा केंद्र,
जवाहरलाल नेहरू
विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली-110067

पुस्तक: भूख का व्याकरण (आटेमशाऊकेल का हिंदी अनुवाद)
लेखक: हेर्टा म्युलर,
अनुवाद : प्रो. राजेंद्र डेंगले एवं नमिता खरे
प्रकाशक: वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2015
मूल्य: ₹ 495

'**भूख का व्याकरण**' नोबेल पुरस्कार विजेता हेर्टा म्युलर के मूल उपन्यास 'आटेमशाऊकेल' का हिंदी अनुवाद है। हेर्टा म्युलर उपन्यासकार, कवयित्री और निबंधकार हैं। वे साम्यवादी रोमानिया में निकोलाइ चाउसेस्कु के दमनकारी शासन के दौरान जीवन की कठोर परिस्थितियों का सजीव चित्रण करने के लिए जानी जाती हैं।

हेर्टा म्युलर ने अपना उपन्यास 'आटेमशाऊकेल' 'लिंग्विस्टिक टर्न' आने के दशकों बाद लिखा। इस उपन्यास को 'लिंग्विस्टिक टर्न' के संदर्भ में देखने के कई कारण हैं, लेकिन उससे पहले यहां 'लिंग्विस्टिक टर्न' की व्याख्या करना जरूरी है। बीसवीं सदी के शुरुआत में यूरोप में 'लिंग्विस्टिक टर्न' आया। सबसे पहले गुस्तव बेर्गमान ने 'लिंग्विस्टिक टर्न' शब्द को गढ़ा। लेकिन रिचर्ड रॉर्टी ने इस शब्द का इस्तेमाल 1967 में अपने प्रसिद्ध संकलन 'द लिंग्विस्टिक टर्न' में किया और 'हाल ही में हुए दार्शनिक क्रांति', लिंग्विस्टिक फिलॉसफी के निर्णायक सोपान को ढूंढ़ा। 'लिंग्विस्टिक टर्न' आने से 'वस्तु' की जगह 'शब्दों' की बात होने लगी, मतलब 'शब्द' सिर्फ शब्द न रहा बल्कि लिंग्विस्टिक टर्न के साथ शब्द 'प्रतीक' बन गया। भाषा साधारण नहीं रही, उसमें बदलाव हुआ।

इसी बदलाव के साथ शुरू हुआ 'साधारण' और 'आदर्श भाषा' में विभाजन का तर्क, और आगे प्रश्न यह उठा कि किस मापदंड के अनुसार माना जाए कि कौन सी भाषा साधारण है और कौन सी आदर्श है। इस बदलाव ने भाषा को एक नया रूप दिया। 'लिंग्विस्टिक टर्न' को अमल में लाना एक नई विधि अपनाने से कम न था। रॉर्टी का मानना है कि फिलॉसफी की समस्या भाषा की समस्या है, और इसे भाषा में सुधार अथवा दैनिक भाषा की गहरी समझ के द्वारा सुलझा सकते हैं। 'साधारण' और 'आदर्श भाषा' में विभाजन इनके अनुयायियों के बीच नहीं है, बल्कि परंपरागत और भाषाई दार्शनिकों के बीच है। रिचर्ड रॉर्टी के अनुसार 'आदर्श भाषा' और 'साधारण भाषा' दर्शन का साझा क्षेत्र 'उस' भाषा के बारे में पूर्व चिंतन है, जिस भाषा में हम वह सब कुछ संप्रेषित कर सकें, जो हम कहना चाहते हैं। लेकिन उस भाषा में हम कोई दार्शनिक सवाल नहीं पूछ सकते और न ही कोई थिसिस रख सकते हैं।

'भूख का व्याकरण' को अगर 'लिंग्विस्टिक टर्न' के संदर्भ में देखा जाए तो पाएंगे कि इस उपन्यास में भाषा के साथ प्रयोग हैं, जहां भाषा का प्रयोग 'प्रतीक' के रूप में हुआ है। जैसे 'भूख एक वस्तु है। देवदूत दिमाग पर सवार है। भूख-देवदूत सोचता नहीं है। वह सही सोचता है। वह हमेशा हाजिर होता है। वह मेरी कमजोरियों को पहचानता है और उसको पता होता है कि किस दिशा में उसको चलना है।'

उपन्यास के इन वाक्यों में हम देख सकते हैं कि 'भूख' को लेखिका ने 'वस्तु' बताया है और बोलचाल की भाषा में वस्तु वह होता है जिसको हम छू सकें, देख सकें, पर भूख को न हम देख सकते हैं न ही छू सकते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि भाषा को यहां प्रतीक बनाया गया है जो कि 'लिंग्विस्टिक टर्न' के बाद प्राय: प्रयोग में लाया जाता रहा है। जब हम भाषा की बात करते हैं तो पहला प्रश्न यह उठता है कि भाषा क्या है? एक दूसरे को समझने का साधन या एक ही तथ्य को विभिन्न प्रकार से प्रस्तुत करने का साधन? क्या हर कोई भाषा का प्रयोग करके अपनी बात दूसरों को पूर्णत: समझाने में कामयाब होता है? क्या पाठक या अनुवादक के लिए भाषा की जानकारी होनी उतनी ही आवश्यक है जितनी कि लेखक को?

इस उपन्यास को पढ़ते वक्त पाठक उक्त प्रश्नों और कहीं न कहीं उनके जवाब से भी रूबरू होता है। हेर्टा म्युलर के उपन्यास के पात्रों की भाषा एक विशिष्ट भाषा है। हेर्टा म्युलर भाषा के बारे में अपने विचार प्रकट करते हुए गांव की भाषा और अपने बचपन का जिक्र करती हुई कहती हैं कि गांव की भाषा में चीजों के नाम

रविन्द्र दास की एक कलाकृति

वैसे ही थे जैसी चीजें थीं और चीजें भी वैसी ही थीं जैसे उनके नाम थे। ज्यादातर लोगों के लिए शब्द और वस्तु के बीच कोई फर्क नहीं था।

इस संदर्भ में आधुनिक काल के मनुष्य के भाषा के संकट का जिक्र किया जाना बहुत जरूरी है, बीसवीं सदी के अंत में लेखन शैली में प्रतीकों, प्रतिरूपों और उपमाओं का प्रयोग सामने आया। यह वह समय था जब समकालिक लेखन पारंपरिक लेखन शैली को चुनौती देना चाहते थे, और उनकी इस चुनौती में एक नयी भाषा शैली के विकास का सामूहिक प्रयोजन अपने चरम पर था। और इस प्रयोजन की एक विशिष्ट झलक 'भूख का व्याकरण' में साफ-साफ देखी जा सकती है, जहां कुछ शब्दों की जुगलबंदी बिल्कुल ही नई और विशिष्ट है जिसे हर्टा म्युलर की लेखन शैली के पहचान के तौर पर देखा जा सकता है।

एक आम हिंदी पाठक के लिए यह उपन्यास (लेखन के मामले मे) बिल्कुल ही नए तरीके की लेखन शैली है। मूल भाषा जर्मन में इस उपन्यास को पढ़ते वक्त ऐसा लगता है कि कुछ नए शब्दों को गढ़ने की कोशिश की गई है, जो 'नीआलजिज्म' की श्रेणी में आते हैं जहां एक स्थापित भाषा में नए शब्दों को गढ़ कर भाषा के शब्दकोश को विस्तृत किया जाता है। उपन्यास का शीर्षक 'आटेमशाऊकेल' इसी का एक उदाहरण है।

इस उपन्यास में हेर्टा म्युलर शब्दों के साथ साथ भाव को भी 'डीकंस्ट्रक्ट' करती हैं। थॉमस आन्त्स ने सन 2006 में मानवीय भाव के अध्ययन के संदर्भ में 'इमोशनल टर्न' की बात कही। साहित्य अध्ययन में भाव का अध्ययन कोई नया आयाम नहीं है, पर समय के साथ इसमें कई दृष्टिकोण जुड़े।

हेर्टा म्युलर के उपन्यास 'भूख का व्याकरण' को अगर 'इमोशनल टर्न' के संदर्भ में देखा जाए तो यह रचना भी यहां एक नया आयाम जोड़ती नजर आती है। उदाहरण के तौर पर कई अन्य भावों में 'शर्म' और 'पश्चाताप' के भाव हैं, जिससे होलोकॉस्ट के उत्तरजीवियों को जीवनपर्यन्त जूझना पड़ा। मानसिक आघात देने वाला अनुभव, चाहे वो कॉन्सेंट्रेशन कैंप का अनुभव हो, नरसंहार का, युद्ध का, श्रम शिविर का या फिर यौन उत्पीड़न का हो ऐसे आघात का असर इंसान के व्यक्तित्व पर लंबे समय तक के लिए होता है।

हेर्टा म्युलर इस उपन्यास में यातना के उन पलों को विस्तृत रूप से उकेर कर पाठकों के सामने रख देती हैं। इससे यातना के पैमाने का

मदनलाल की एक कलाकृति

पता लगाया जा सकता है कि लिखने वाले के लिए भी यह सब लिखना उस यातना के क्षण में एक बार और जीने जैसा रहा होगा। जैसे कि- 'अगर मृतक को तुम व्यक्तिगत रूप से नहीं जानते तो तुम सिर्फ फायदे की तरफ ध्यान देते हो। उसकी चीजों को तुम ठिकाने लगाते हो, यह कोई बुरा काम नहीं है। अगर मृतक जिंदा होता और तुम उसकी जगह होते तो वह भी तुम्हारे साथ यही करता और तुम्हे कोई फर्क नहीं पड़ता। कैंप की दुनिया एक व्यावहारिक दुनिया है। इसमें शर्म और भूत-पिशाच का डर तुम्हें महंगे पड़ते हैं। डबल रोटी की अदालत की तरह मृतक के सामान को ठिकाने लगाने का काम सिर्फ वर्तमान को पहचानता है, लेकिन इस काम का हिंसा से कोई नाता नहीं होता। यह काम व्यावहारिकता और संयम के साथ किया जाता है।' (पृष्ठ-124)

यहां जिस व्यावहारिकता की बात कही गयी है, वह बाद के वर्षों में उत्तरजीवियों के शर्म और पश्चाताप के कारण बन सकते हैं। प्रीमो लेवी (1919-1987) की किताब 'द ड्रॉन्ड एंड द सेव्ड' उत्तरजीवियों के शर्म और पश्चाताप को केंद्र में रखती है। इसी प्रकार मनोवैज्ञानिक ब्रूनो बेटेलहाइम (1903-1990) जिन्हें दखाऊ और बुखेनवाल्ड में 1938-39 के बीच बंधक बना कर रखा गया था, 1990 में प्रकाशित 'सरवाइविंग एंड अदर ऐसेज' में लिखते हैं, 'कॉन्सेंट्रेशन कैंप के उत्तरजीवी बिना पश्चाताप की भावना के जी ही नहीं सकते।'

'भूख का व्याकरण' में कई ऐसे वर्णन हैं, जो इन्हीं भावों को दर्शाते हैं, पर अलग तरीके से। शर्म और पश्चाताप कोई तब महसूस करता है जब स्वयं का अत्यंत निजी, संवेदनशील मर्मस्थल अनावृत्त हो जाता है। पर ऊपर वर्णित म्युलर की पंक्तियों को पढ़ कर लगता है कि 'स्वयं' का अत्यंत निजी, संवेदनशील मर्मस्थल अनावृत्त हो रहा हो, पर किसका 'स्वयं' यहां अनावृत्त हो रहा है? एक सत्रह वर्षीय रोमानियाई जर्मन लड़के लियो आउबॅग का या फिर उस मानवता रहित दुनिया का, जिसमें हम सब जी रहे हैं?

प्रीमो लेवी की 'द ड्रॉन्ड एंड द सेव्ड' उत्तरजीवियों के शर्म की बात करती है, जबकि म्युलर का यातना का विस्तृत विवरण शर्म को उत्तरजीवियों से पाठकों में स्थानांतरित कर देता है। भाव का यह प्रयोग भाव को ही 'डीकंस्ट्रक्ट' करता है। इसी प्रकार भाव के 'डीकंस्ट्रक्टसन' का एक और उदहारण है, जहां उपन्यास में संगीत का वर्णन है। संगीत से अमूमन उमंग और खुशी का रिश्ता होता है, पर म्युलर उस रिश्ते को तोड़ती अथवा 'डीकंस्ट्रक्ट' करती नजर आती हैं। उदाहरण- 'लेकिन मैं नाचता हूं एक बेगार मजदूर बनकर। मेरे फूफाइका में जूएं हैं। गमबूट में मेरे पैर गंदी बदबूदार चिंदियों में लिपटे हैं। हमारे यहां के डांस हॉल की याद से और पेट के खालीपन से मुझे चक्कर आने लगते हैं... मैं बोलता हूं और अपने पसीने में डूबे फूफाइका में त्सिरी के इर्दगिर्द चक्कर लगाता हूं, जैसे उसका पसीने से भरा फूफाइका मेरे इर्द गिर्द चक्कर लगाता है ...' (पृष्ठ-121)

अबू गरीब के जेल की यातना हो, कॉन्सेंट्रेशन कैंप की यातना या फिर कम्युनिस्ट रोमानिया के श्रम शिविर की यातना- इन सब यातनाओं में सबसे खास बात यह है कि इन सब जगहों पर यातनाओं के कई नए अमानवीय तरीके अपनाए गए और इन्हें बताने के लिए साहित्य में शब्द और भाव दोनों ही कम पड़ गए।

म्युलर की यह रचना अपनी प्रयोगात्मक बौद्धिकता के शिखर पर भाव और भाषा दोनों में ही अनगिनत बूंदें भरती है और साहित्य को और संपन्न करती है। साथ ही पाठकों को यातना तक लेकर जाती है, जहां पाठकगण न चाहते हुए भी साथ में जीते हैं, महसूस करते हैं और साथ में टूटते हैं। ऐसी ताकत चुनिंदा साहित्य में ही होती है। शब्दों और भावों के इस

प्रयोगात्मक लेखन के चुनौतीपूर्ण अनुवाद का श्रेय प्रो राजेंद्र डेंगले और नमिता खरे को जाता है।

इस उपन्यास को समझने की कोशिश में साहित्य को लेकर पाठकों के कई मिथक टूटते हैं। कई बार पाठक एक (या एक से अधिक भी) तरह की लेखनी से सामंजस्य बैठा लेता है, और 'भूख का व्याकरण' पाठकों को इसी सामंजस्य से उठा कर भाषाई असुविधाजनक स्थिति में डाल देता है। एक पाठक को ऐसी असुविधा मौलिक रचना (जर्मन) में हो सकती है, पर इस अनुवाद की सफलता इसी से आंकी जा सकती है कि ऐसा ही भाव अनुवाद में भी प्रवाहित हुआ है।

बतौर एक सामान्य पाठक यह सामान्य हिंदी भाषा का उपन्यास प्रतीत नहीं होता। इसको पढ़ते हुए एक सामान्य पाठक को प्रारंभ में भाषा प्रवाह की कमी महसूस होगी, परंतु ज्यों-ज्यों वह इस उपन्यास को पढ़ता जाएगा उसे लगेगा कि इसकी लेखन शैली विशिष्ट है। वह धीरे-धीरे उस शैली के अनुकूल ढल जाएगा और तब उसे भाषा प्रवाह और शब्दों का चयन सहज लगने लगेगा।

इस अनुवाद का विश्लेषण करने पर कई प्रश्नों से रूबरू हुआ जा सकता है, जैसे कि सबसे पहले यह मूल सवाल कि 'टेक्स्ट' क्या है? अगर टेक्स्ट शब्दों का संग्रह है, तो शब्द अपने आप में पात्र हैं जो किसी भी चीज को अपने में समाहित कर सकते हैं। अगर टेक्स्ट की इस परिभाषा के तहत 'होलोकॉस्ट' शब्द को देखा जाए तो यह शब्द खुद में अपरिमित इतिहास है। वोल्फगांग कशूबा इस तथ्य की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि 'अगर 'प्रतीक और अनुष्ठान' को शोध की दृष्टि से देखा जाए तो ये दोनों हीं 'टेक्स्ट' की गुणवत्ता की पहचान होते हैं।

जर्मन दार्शनिक और आलोचक वाल्टर बेंजामिन (1892-1940) के अनुसार एक अनुवाद सिर्फ कथ्य को व्यक्त या संप्रेषित करना नहीं है बल्कि उससे कहीं ज्यादा है। बेंजामिन लिखते हैं कि किसी 'टेक्स्ट' का अनुवाद उस 'टेक्स्ट' के रहस्यपूर्ण अर्थ की ओर भी आकर्षित करता है और अनुवाद में हमेशा कुछ रहस्यपूर्ण शेष रह ही जाता है। बेंजामिन ने अनुवाद को कथ्य से अधिक बताया और इसके आधार पर उन्होंने 'अनुवाद दर्शन' विकसित किया जो शुद्ध भाषा की संकल्पना पर आधारित है।

म्युलर की यह रचना अपनी प्रयोगात्मक बौद्धिकता के शिखर पर भाव और भाषा दोनों में ही अनगिनत बूंदें भरती है और साहित्य को और संपन्न करती है। साथ ही पाठकों को यातना तक लेकर जाती है, जहां पाठकगण न चाहते हुए भी साथ में जीते हैं, महसूस करते हैं, साथ में टूटते हैं। ऐसी ताकत चुनिंदा साहित्य में ही होती है। शब्दों और भावों के इस प्रयोगात्मक लेखन के चुनौतीपूर्ण अनुवाद का श्रेय प्रो राजेंद्र डेंगले और नमिता खरे को जाता है।

'हर एक शुद्ध भाषा के पास तात्पर्य प्रकट करने का एक अपना तरीका होता है जो महज कथ्य संप्रेषण नहीं बल्कि उससे कहीं अधिक होता है।' इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि एक पाठक और अनुवादक के लिए शुद्ध भाषा का ज्ञान बहुत ही आवश्यक है। हर्टा म्युलर के उपन्यास में वर्णित कॉन्सेंट्रेशन कैंप के अंदर की भाषा बाहर के लोगों की भाषा से बिल्कुल अलग हो सकती है और अलग है भी। अत: एक पाठक को भाषा और उसके उचित प्रयोग का ज्ञान होना चाहिए। भाषा का संकट हर एक व्यक्ति के साथ हो सकता है। ऐसा भी हो सकता है कि वह अपनी बात को भाषा संकट के कारण ठीक तरीके से संप्रेषित नहीं कर पाए। जैसा कि ह्यूगो फॉन होफ्मांस्ताल (1874-1929) ने अपने पत्र में भाषा के संकट का विस्तृत रूप से वर्णन किया है। ठीक उसी प्रकार हम आम पाठक अपने और एक लेखक के बीच भाषा संकट का जिक्र कर सकते हैं, और यह भी वर्णन कर सकते हैं कि किस प्रकार भाषा का संकट लेखक और पाठक के बीच के उचित संप्रेषण का मुख्य बाधक या कारण हो सकता है।

हेर्टा म्युलर के इस उपन्यास को समझने के लिए पाठक को अपनी निजी भाषा से स्वतंत्र होना पड़ेगा तब उसे पाठ के बाह्य स्वरूप और लेखक की लेखन शैली समझ में आएगी और वह इस उपन्यास में वर्णित तथ्यों और उसके भावों को समझने मे कामयाब होगा।

जिस तरह हेर्टा म्यूलर के लिए यह उपन्यास लिखना एक बार फिर से बीते लम्हों को जीने जैसा रहा होगा, उसी तरह उपन्यास के अनुवादक के लिए इन सब भावों का उसी गहराई के साथ सृजन करना चुनौतीपूर्ण रहा होगा। तो अगला सवाल पाठकों तक आता है कि क्या पाठकगण इस चुनौतीपूर्ण और कई स्तरों पर असहज लेखन से रूबरू होने की चुनौती को स्वीकार करते हैं?

जिस तरह सत्य के कई प्रतिरूप होते हैं, उसी प्रकार उसे कहने और लिखने के भी कई अंदाज होते हैं। साहित्य भी एक अंदाज है। 'भूख का व्याकरण' एक ऐसा साहित्यिक अंदाज है, जो खुद साहित्य की एक अलग परिभाषा गढ़ता है और साहित्य को परिभाषाओं से परे विखंडित भी करता है। ■

PUSTAK VARTA JAN-FEB-2015 FINAL_JULY-AUGUST 2014.qxd 21-06-2015 18:35 Page 24

वाजश्रवा के बहानेः अर्थ के संधान की भूमियां

■ **प्रभाकर श्रोत्रिय**
वरिष्ठ आलोचक

संपर्क : ए-601, जनसत्ता सोसाइटी, सेक्टर-9, वसुंधरा, गाजियाबाद-201012

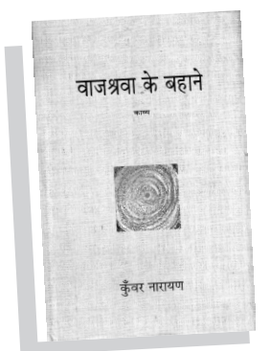

पुस्तक : वाजश्रवा के बहाने
कवि : कुंवर नारायण
प्रकाशक: भारतीय ज्ञानपीठ, , नयी दिल्ली
प्रकाशन वर्ष: 2008
मूल्य: ₹160

कुंवर नारायण का काव्य 'वाजश्रवा के बहाने' 'आत्मजयी' के कोई चार दशक बाद, एक तरह से उसकी पूरक कृति के रूप में आया। यह एक लंबी अंतर्धारा के रूप में उनके भीतर चार दशकों से जारी रहा है। इस बीच प्रकाशित काव्य संकलनों में भी उस मंथन की ध्वनियां मिल जाएंगी, पर उनका विस्फोट 'वाजश्रवा के बहाने' में ही हुआ है। 'जीवन' या 'आत्म' को जानने की ऐसी बहुविध विह्वलता किसी दार्शनिक अंतश्चेतना के काव्य-परिणाम जैसी लगती है और कुछ हद तक वह है, परंतु उसमें तीव्र यथार्थ-बोध है। जीवन को मृत्यु की ओर देखना (आत्मजयी) या मृत्यु को जीवन की ओर से देखना (वाजश्रवा...) अंततः जीवन को देखने और उसके अर्थ को आद्यंत जानने की खामोश बेचैनी है।

'वाजश्रवा के बहाने' निश्चय ही एक जटिल काव्य है। इसका मुख्य कारण यह है कि इसके भीतर 'कथावस्तु' नहीं है, अनुभव हैं, विचार हैं जिनमें संवेदन, दर्शन, मनोविज्ञान और यथार्थ बोध है। आप सीधे-सीधे प्रतीकों, बिंबों, कथ्य की मूर्तता में निहित कृति को नहीं पा सकते, हर कुछ के भीतर उतरे बिना और उसे समग्रता से जाने बिना उससे मुलाकात संभव नहीं है।

'वाजश्रवा' पर विचार करते हुए लग सकता है कि जैसे यह कोई अमूर्त कृति हो। जबकि ऐसा नहीं है। कुंवर नारायण के पूरे काव्य-संसार को देखें तो उनके यहां यथार्थ भले चिल्लाता न हो, वह बोध में निहित है और यदा-कदा उसमें समय और घटनाओं के चिह्न भी उभरे हैं। जीवनानुभव और संवेदन को गहरे काव्य में जिन संकेतों और ध्वनियों में प्रकट होना है, उसका एक बहुत ही सुथरा रूप कुंवर नारायण में देखने को मिलता है। भाषा को वे जिस ध्वन्यर्थ में प्रयुक्त करते हैं, उसे जाने बिना उनके काव्य की पकड़ कई जगह छूट जाती है। कई बार अर्थों के झुरमुट में कुंवर नारायण प्रकट होते हैं। उनके यहां पाठक का लोकतंत्र किसी भी कवि से अधिक है। इसलिए उनके अनेक पाठ हो सकते हैं।

कुंवर नारायण उदारता और संतुलन के अद्‌भुत कवि हैं, उनका फलक मिथक से वर्तमान में होता हुआ भविष्य तक फैला रहता है। उनकी कविता वक्त की आंधियों में निष्कंप जलते ऐसे दीये की तरह है, जो अपनी झिलमिली में भी काव्य-विवेक को धारे रहता है। कवि ने अपना काव्य-पट नकारात्मक संवेदनों से नहीं बुना है, जबकि जिन युगों के बीच उसने काव्ययात्रा और जीवनयात्रा की है, उनमें नकार के अनगिनत तत्त्व मौजूद रहे हैं।

चुपचाप जीवन और काव्य को बरतते हुए कुंवर नारायण को देखता हूं तो विस्मित रह जाता हूं क्योंकि यह 'चुप' उनका काव्य या रचना-स्वभाव नहीं है, जीवन-स्वभाव है। क्योंकि रचना में तो समय और विचार के असंख्य आलोड़न-विलोड़न होते रहते हैं, इनके बीच समतोल और निष्कंप जैसे दिखना, समाधि-साधना जैसा लगता है।

इस छोटे से परिप्रेक्ष्य के बाद मूल कृति की विस्तृत चर्चा सुगम होगी। हिंदी सर्जना ने बड़े प्रश्नों से जूझना लगभग छोड़ दिया है। आधुनिक लेखक यदि इन्हें अध्यात्म, दर्शन या प्राचीनता के खाते में डालकर मान ले कि वर्तमान सवालों, समस्याओं और संघर्षों से इनका कोई संबंध नहीं है तो वह उन विमर्शों, अनुभवों और गवेषणाओं से अपने को वंचित कर लेता है जिनमें पुरखों की सैंकड़ों, हजारों वर्षों की साधना संचित है और जिनमें ढेरों व्यंजनार्थ और सृजनार्थ निहित हैं। बड़े प्रश्नों से असंख्य प्रश्न निकलते हैं जैसे शास्त्रीय संगीत से कई प्रकार के संगीत। वे आधुनिक लेखकों को सीमित और एकायामी दायरों से निकाल कर विराट, देशकाल व्यापी विजन देते हैं।

इस दृष्टि से 2008 में प्रकाशित कुंवर नारायण की कृति 'वाजश्रवा के बहाने' पर विचार करें तो देखेंगे कि उसकी बीज-वस्तु हजारों वर्ष पहले की दार्शनिक रचना 'कठोपनिषद्' से संदर्भित है। कुंवर नारायण की

यह कृति उन्हीं की कोई पांच दशक पहले लिखी रचना 'आत्मजयी' के सूक्ष्म तारतम्य में है, जो एक प्रखर जिज्ञासु युवक नचिकेता की साक्षात् मृत्यु-देव यम से एक ऐसे प्रश्न को लेकर की गई जिरह का काव्य-रूप है जिसका उत्तर यदि यमराज दे देते तो स्वयं की आतंक और भय की सत्ता को संकट में डाल देते, यदि वे यही रहस्य बता देते कि मरने के बाद आत्मा कहां जाती है तो मृत्यु का क्या अर्थ रह जाता? लिहाजा यम, नचिकेता को भांति-भांति के वैकल्पिक प्रलोभन देते हैं, पर वह विकट सत्यार्थी केवल अपने प्रश्न का उत्तर पाने पर अड़ा हुआ है। अंतत: यम उसे अनुत्तरित धरती पर लौटा देते हैं।

पहला सत्य-शोधक विफल हुआ... धरती से लेकर आकाश तक... पिता से लेकर धर्मराज तक... सत्य को कहीं ठौर न था... यह एक ऐसी स्थिति है जो देश-काल को सदा बींधती रही है...। इस कथा को कुंवर नारायण ने कैसे बरता और अपने देश-काल के लिए क्या दुहा, यही 'आत्मजयी' का कथ्य है।

काव्य समाप्त हो गया था पर उसमें उठाए प्रश्न कुंवर नारायण के मन को मथते रहे। नया काव्य इसी मंथन की उपज है। मंथन से क्या-क्या नहीं उपजता? भारतीय पुराणों की समुद्र-मंथन की रूपक-कथा को याद करें। खैर, 'वाजश्रवा के बहाने' नचिकेता का यमन क्षेत्र प्रस्थान और पुन: जीवन में वापसी की संधि से प्रारंभ होकर क्रमश: अपना मौलिक रूप और अस्तित्व पाने लगता है। जिस पिता ने विरुद्ध होकर उसे यम-क्षेत्र में धकेला था, वही उसे खो देने के बाद बेहद पीड़ा से महसूस करता है और उसे लगता है कि उसने क्या खो दिया है? वह अनुशय और संताप से भरकर पुत्र को पुन: पाने की विकल आर्त्त पुकार से देश-काल, तल-अतल, अंधेरे-उजाले, चेतन-अचेतन, धरती-आकाश और जहां कहीं भी प्राण की व्याप्ति है, वहीं से उसे लौटने के लिए पुकारता है। (इस प्रकार का भी एक प्रतीकार्थ है।) मानो 'उपनिषद्' का प्राण-आह्वान संवेद और पश्चाताप में पिघल कर बह रहा हो:

रविन्द्र दास की एक कलाकृति

लौट आओ प्राण
पुन: हम प्राणियों के बीच
जहां कहीं भी चले गये हो
हमसे बहुत दूर --
लोक में
परलोक में
तम में,
आलोक में
शोक में
अशोक में...
.....
तल में
अतल में
जल में
अनल में
चल में
अचल में...
.....
क्षितिज में
व्योम में
तारों के
स्तोम में
प्रकट में
विलोम में...
.....
फूलों में
पत्तियों में
मरु में
वनस्पतियों में
अभावों में
पूर्तियों में...
.....
जलधि की
गहराइयों में
ठिठुरती
ऊंचाइयों में
पर्वतों में
खाइयों में
.....
वात में
निर्वात में
निर्झर में
निपात में
व्याप्ति में
समाप्ति में...
.....
रसों में
नीरस में

पृथ्वी में
द्यौस में
संध्या में
उषस में --
लौट आओ प्राण । (पृष्ठ:18-20)

वाजश्रवा की यह अद्वितीय-अपूर्व कातर पुकार उसे 'आत्मजयी' के दार्शनिक वृत्त से बाहर निकाल कर संवेदनाघात की मानवीय भूमि पर ला देती है। जाहिर है पचास वर्ष से कवि के भीतर सीझ रहे विचार अब अनुभव का रूप ले चुके हैं इसीलिए वाजश्रवा अब नचिकेता की मृत्यु को जीवन की दृष्टि से देख रहा है जिसका मूल्य उसे खो देने पर ही उसे पता चला है। यह कवि-दृष्टि अपने समय को रचनात्मक अर्थ देने के लिए भी जरूरी है, क्योंकि 'भूमंडल' की वर्तमान काल-लिपि, 'प्रलयंकर प्रगल्भता' से सिर्फ मृत्यु को लिख रही है। यहीं से खींच कर जीवन लाने के संकल्प का काव्य-रूपक मुझे युद्ध के विरोध में लिखा जान पड़ता है, जो युद्ध अब शस्त्रों का उतना नहीं रहा जितना जीवन में उतर आया है- उस पूरी प्रणाली में जिसमें हमारा समय सांस ले रहा है।

कवि वाजश्रवा के 'अशुभ क्रोध' से उत्पन्न 'विक्षोभ' और नचिकेता की 'मृत्यु' के इर्द-गिर्द दर्शन, विचार, अनुभूति, समय, समायांतर बुनता चला जाता है। इसमें अतीत का आग्रह नहीं है केवल अपने लिए प्रासंगिक अर्थ पाने की चाहत है। 'पूर्व-कथन' में कवि कहता है - 'मेरी अवधारणा में अतीत की ओर लौटने का कोई आग्रह नहीं है, ऐसे कुछ विचारों और धारणाओं का अवलोकन है जो आज कुछ विशिष्ट अर्थों में हमारे लिए पहले से भी ज्यादा प्रासंगिक ठहरते हैं।'

इस रोशनी में यदि हम इस काव्य को देखें तो इसके दो बीज शब्द प्रतीत होते हैं- 'आग्रह' और 'अवलोकन'। अतीत आता है तो कोई हर्ज नहीं, अगर वह 'कुछ विशिष्ट अर्थों में 'पहले से भी ज्यादा प्रासंगिक हो', कवि उससे संपृक्त नहीं है, सिर्फ उसका 'कुछ' 'अवलोकन' कर रहा है। यह 'अवलोकन' भारतीय दर्शन और संस्कृति का एक विशेष शब्द है। यह सिर्फ 'देखना' नहीं है। जब वेद में कहा जाता है- पश्य श्वस्य काव्यं, तो क्या यह 'देखना' भर है ? 'पर्यवेक्षण' 'खोज' और 'दृष्टि' इसमें शामिल है। बुद्ध का एक स्वरूप है 'अवलोकितेश्वर'- तो क्या वे सिर्फ देखते हैं- इसलिए ? 'अवलोकन' में 'अंतर्दृष्टि' और 'बहिर्दृष्टि' दोनों शामिल हैं, और दोनों की अपनी तरह से जरूरत है। जो त्रासदी घटित हुई उसका मूल कारण यही तो है कि वाजश्रवा को नचिकेता के जिस बेचैन प्रश्न पर आत्म-चिंतन करना था, उसे लेकर वह 'अशुभ क्रोध' कर बैठा -

'केवल वही था
जो बाहर निकलने की उतावली में
बाहर की ओर ढकेलता रहा उस दरवाजे को
जो अंदर की ओर खुलता है।'
(उसे याद आया एक जीवन, पृष्ठ-54)

काव्य में अतीत-दृष्टि और समय-दृष्टि का समन्वय है। इसलिए हमें उस लंबे दार्शनिक और सांस्कृतिक चिंतन की अंतर्धारा को भी देखना होगा जो मृत्यु, पराजीवन और जीवन में विश्वास या मृत्यु के अतिक्रमण से जुड़ी है। परंतु पहले इस काव्य पर आते हैं।

कवि ने अतीत-दृष्टि के बारे में जिस 'अवलोकन' शब्द का इस्तेमाल किया है, यह उस कवि की विवेक-दृष्टि भी है जो अनेक अर्थों में कवि द्वारा काव्य-वस्तु की अनुभूति के बाद उससे अपनी एक दूरी बनाने का यत्न है, ताकि वह किसी आग्रह या एकांतिकता से ग्रस्त न हो, उसके आत्म-विवेक को ढक न ले, उसे अंधानुकरण में धकेल न दे, ताकि वह उसकी गतिशील जीवंतता को सर्जना का रूप दे सके। देखें -

'बिलकुल चिपक कर नहीं
जरा परे हट कर भी
देखना और सोचना जरूरी है
अपने समय को
(तुम्हें खो कर मैंने जाना, पृष्ठ-115)

(इस विवेक-दृष्टि के अभाव में विचारधाराओं और रूढ़ियों में जकड़ी रचनाएं हर स्तर पर अपनी 'अवधारणा' और 'तर्क' से चिपकी रहती हैं। इसलिए सर्जना नहीं बन पातीं। खैर।)

पुत्र को खो देने के बाद पिता में 'सच्चा' पश्चाताप जन्म लेता है जिसमें सारा भौतिक वैभव और संग्रहण- जिस पर पुत्र ने प्रश्न उठाया था- उसके प्राणों की एवज में व्यर्थ जान पड़ता है। उसमें अब जाकर वह 'आत्म चिंतन' जन्म लेता है, जो तब लेना था, जब उसने पुत्र को एक चुभने वाले प्रश्न पर शाप दिया था:

'तुम्हें खोकर मैंने जाना
हमें क्या चाहिए- कितना चाहिए
क्यों चाहिए संपूर्ण पृथ्वी ?
जबकि उसका एक कोना बहुत है
देह बराबर जीवन के लिए
और पूरा आकाश खाली पड़ा है
एक छोटे-से अहं से भरने के लिए।'
(वही, पृष्ठ-112)

यह 'अपरिग्रह' की ही एक व्याख्या है। वैसे भी अनुशय या पश्चाताप मनुष्य में आत्म-प्रक्षालन आत्माहुति जगाता है। जीवन का सारा विकार छन कर मन पारदर्शी हो जाता है। वाजश्रवा में तब्दीलियां होने लगती हैं, भूत-भविष्य-वर्तमान अनेक रंगों में झलमलाने लगते हैं- जैसे कांच-महल में दीपक-बिंब। लौटने वाला नचिकेता भी वही नहीं रहा है जो मृत्यु से पहले था। अब उसमें क्षमा भाव और जीवन के प्रति उल्लास पैदा हुआ है। 'वाजश्रवा के बहाने' की खंड-खंड संरचना और शब्द से अधिक बोलने वाले अंतराल पिता-पुत्र के ऐसे ही झलमलाते बिंब हैं जिन्हें कुंवर नारायण तारों भरा आकाश शायद इसलिए कहते हैं कि उन बिंबों में सिर्फ व्यक्ति या दो संबंध नहीं हैं, एक समष्टि भाव है, जिसमें जीवन और दर्शन के अनेक निहितार्थ हैं- देश और काल को समाहित किए हुए। इसलिए इन पंक्तियों को शिल्प में संकुचित नहीं करना चाहिए-

'... दो शब्दों को जोड़ती हुई
खामोश जगहों से भी
बनता है भाषा का पूरा अर्थ

बनता है तारों भरा आकाश...'

(असंख्य नामों के ढेर में, पृष्ठ- 34)

पीछे भारतीय चिंतन-धारा का जिक्र किया गया था, क्योंकि मुझे लगता है कि कुंवर नारायण का इतना लंबा आत्म-विमर्श केवल नचिकेता आख्यान को आगे बढ़ाने के लिए नहीं है, बल्कि किसी पुनरन्वेषण के लिए है।

'आत्मजयी' का उत्तर चिंतन कवि से मांग कर रहा था कि इस बीच समय में हुए बड़े फेर-बदल को उस गहरी पृष्ठभूमि के जरिए रेखांकित करे जो भारतीय तथा विश्व जीवन में अंतर्प्रवाहित है। समय के चरित्र और सोच में जो विडंबनापूर्ण अतिवाद और एकाधिकारवाद ने अपना दबाव पैदा किया है, ('संघर्ष और हिंसा अतिवाद में है न कि विभिन्नता में', पूर्व-कथन) द्वंद्व की गलाकाट स्पर्द्धा मनुष्यता को मृत्यु-मुख में ले जा रही है, सिर्फ उसके इन्कार से काम नहीं चलेगा, एक वैकल्पिक दृष्टि देनी होगी। इस काव्य में इसीलिए कथा महत्त्वपूर्ण नहीं है, जीवन-दृष्टि महत्त्वपूर्ण है जिसे स्थापित करने की एक मानवीय भावभूमि की तलाश भी इस लंबे आत्म-विमर्श का जरूरी हिस्सा रहा है।

अपने रचना-समय का आधार कवि ने उस भारतीय विमर्श को बनाया है जो मृत्यु, पराजीवन और मृत्यु के अतिक्रमण संबंधी लंबी चिंतन-परंपरा का संचित सार है। क्योंकि यह चिंतन स्वयं भी गहन गवेषणा की क्रमिक यात्रा से गुजरा है जो मोटे तौर पर वेद से प्रारंभ होकर महाभारत और आगे भी जाता है। कुंवर नारायण ने हालांकि महाभारत, वेद आदि का जिक्र नहीं किया, परंतु आश्चर्यजनक रूप से वे यहां उपस्थिति हैं। अन्य स्मृतियों की तरह कई बार दार्शनिक और सांस्कृतिक स्मृतियां हमारे अचेतन और अवचेतन में पड़ी रहती हैं जबकि चेतन-स्मृति उन्हें विस्मृत किए रहती है। सृजन की एकाग्रता में अनमोल मन:कोश विलक्षण रूपाकार लिए आता है जिसे शायद हमारी चेतना अंत तक पहचान नहीं पाती।

आप स्वयं देखें कि आज के स्थूल अतिवाद और उससे उत्पन्न क्षोभजन्य द्वंद्व के संदर्भ में कवि को क्या याद आता है और उसके साथ क्या क्या:

'तुम्हें खोकर मैंने जाना' खंड में एक रोचक प्रसंग है, जिसके दरवाजे तीन तरफ खुलते हैं- पहला वर्तमान, दूसरा अतीत और तीसरा भविष्य। उस पर लगी तीन बंदनवारें हैं पहली जीवन, दूसरी दर्शन और तीसरी सत्य की:

'किसी महात्मा से पूछा था एक बार
किसी ने - 'कितना समकालीन है
तुम्हारा सत्य?
कितने आधुनिक हैं तुम्हारे हथियार?
तर्कसंगत है तुम्हारा संदेश?
क्या तुम्हारे सिपाही
लड़ सकते हैं
एक महायुद्ध?'
कोई उत्तर न देकर
महात्मा ने पूछा था उससे --
'कितना विकसित है तुम्हारा जीवन-
विवेक,
कितना आधुनिक है तुम्हारा युद्ध?
प्रबुद्ध हैं तुम्हारे सैनिक?
क्या वे लड़ सकते हैं
स्वयं से
एक आत्मिक न्याय-युद्ध?'(पृष्ठ-115)

महात्मा का मतलब न समझ कर उस व्यक्ति ने महात्मा की हत्या कर दी थी। मैं इन बहुआयामी प्रश्नों को आपके चिंतन के लिए छोड़ कर आगे बढ़ता हूं।

'मृत्यु' वैदिक ऋषि के लिए 'सत्य' है। वह उसे स्पष्ट रूप से जीवन की व्यवच्छिन्नता में देखता है। कोई जन्मा था, मर गया बस खत्म। इसे लेकर शेष संसार को शोक करने या भावुक होने की जरूरत नहीं। ऋग्वेद में शव को जलाने या गाड़ने के बाद, साथ आए लोगों से लौट जाने को कहा जाता है। मृतक की युवा पत्नी से वेद कहता है कि यह तो तुम्हारे सजने-संवरने की, सांसारिक आनंद उठाने की उम्र है, जाओ अपने देवर से विवाह कर नया संसार बसाओ जो बड़ी लालसा से तुम्हारी राह देख रहा है। वह स्पष्ट कहता है: 'इमं जीवेभ्य: परिधि दधामि मैशां नु गादपरो अर्थमेतम्'- 'मैं परिधि में ही जीवन और मृत्यु के बीच एक व्यवच्छिन्न रेखा खींचता हूं।' मैं समझता हूं कि 'परिधि' का तात्पर्य है - सृष्टि चक्र - जीवन और मृत्यु को घेरे संसार वृत्त। वेद सृष्टि के मूल में 'काम' को मानता है (कामस्तदग्रे)। वह स्पष्ट कहता है कि 'अस्तित्व' के पहले कुछ नहीं था, न सत्, न असत्, न अंतरिक्ष, न पृथ्वी, सर्वत्र था जल और सघन अंधकार। 'काम' जन्मा तो सृष्टि जन्मी। वेद कई बार यथार्थ कृति लगती है -- कथाओं और प्रार्थनाओं की फैंटेसी से बुनी हुई। जैसी दो टूक धारणा उसकी सृष्टि-जन्म के बारे में है, वैसी ही मृत्यु के बारे में भी। मृत्यु उसके लिए अंतिम और अकाट्य 'सत्य' है, जीव को फिर आना है तो 'पुनर्जन्म' लेना होगा।

आगे विकसित भारतीय चिंतन वेद की इस अवधारणा को नहीं मानता, उसी तरह कुंवर नारायण भी कहते हैं- 'मृत्यु इस पृथ्वी पर जीवन का अंतिम वक्तव्य नहीं है।'(पृष्ठ-90)

उपनिषद के लिए अंतिम सत्य मृत्यु नहीं, 'आत्मा' है। जब जीवन के मूल में 'आत्मा' की प्रतिष्ठा हुई तो जिज्ञासा हुई कि मरने के बाद 'आत्मा' जाती कहां है ? इसी जिज्ञासा का मूर्त रूप नचिकेता है। उसे लेकर ही नचिकेता-आख्यान का माया-लोक बुना गया है। फिर भी यहां आत्मा संबंधी जिज्ञासा किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंची। इसे मूर्त रूप मिला 'महाभारत' में।

मुझे लगता है कि इस विषय पर यदि वेद 'थीसिस' पेश करता है तो उपनिषद 'एंटी थीसिस' और महाभारत 'सिंथेसिस'। ... और विचित्र और अकथित रूप से 'वाजश्रवा के बहाने' न 'थीसिस' है न 'एंटी थीसिस' वह 'सिंथेसिस' है।

वह 'आत्मा' संबंधी प्रश्न को भी केंद्र में नहीं रखता। वह 'पराजीवन' को इसलिए स्वीकारता है कि वह मृत्यु के विरुद्ध एक अलग तरह से जीवन का वक्तव्य है - 'राहत-सी देता है इस तरह भौतिक को पढ़ना, परा

भौतिक की भाषा में। (यह अवसान नहीं, पृष्ठ–148)

इसी संदर्भ में कवि कहता है :

'अंतिम शब्द समाप्तक नहीं
अगले पृष्ठ पर जारी है –
अगला पृष्ठ जो कल खुलेगा' (वही, पृष्ठ–146)

यह अगला पृष्ठ सही अर्थों में महाभारत के सावित्री आख्यान में खुलता है। सावित्री का सामना भी नचिकेता की तरह यमराज से होता है। वह यमराज के काम में कोई बाधा नहीं डालती। सिर्फ अपने पति के 'प्राण' लेकर जाते हुए यमराज का चुपचाप पीछा करती है। न जाने कितने समुद्रों, खाइयों और पहाड़ों को आकाश मार्ग से पार करती सावित्री की तपस्या और आत्म–शक्तियां सोपान पर सोपान चढ़ती जाती है। (श्री अरविंद ने 'सावित्री' महाकाव्य में मन:भूमियों के इस उच्चतर ओरोहणों की उदात्तता की अर्थवत्ता उजागर की है।) इस लंबी यात्रा में सावित्री न उद्विग्न होती है न असंतुलित, बल्कि एक विनम्र विवेक, और सद्भाव से यमराज से निरंतर संवाद बनाए रहती है। यम उसे सत्यवान के प्राण के विकल्प में नचिकेता की तरह 'वरदान' के प्रलोभन देता है, परंतु वह उन्हें अस्वीकार कर नचिकेता की तरह उनका परोक्ष अपमान नहीं करती, बल्कि समझौते के भाव से उन्हें स्वीकार भी करती है, अनेक सदाशयी विचारों से उनका मन नम करती है, उसका पूरा आचरण नचिकेता की तरह सबकुछ के इन्कार से भरा हुआ नहीं है। अंतत: सावित्री अपना लक्ष्य पा लेती है जबकि नचिकेता विफल हुआ था।

'वाजश्रवा के बहाने' में नचिकेता को खो कर वाजश्रवा में क्रोध और अहंकार की जगह एक विनम्र विवेक जागा है जो सावित्री के तापमान से मिलता है। इसी से वह अपने आपकी पुनर्रचना करता है और सोचता है:

'कुछ इस तरह भी पढ़ी जा सकती है
एक जीवन–दृष्टि
कि उसमें विनम्र अभिलाषाएं हों
बर्बर महत्वाकांक्षा नहीं

असल में कुंवर नारायण के पूरे काव्य संसार में यथार्थ चिंतन की गहनता में, बोध में, अर्थ की तहों में निहित है और यदा–कदा उसमें समय और घटनाओं के चिह्न भी उभरे हैं। इसकी स्पष्ट ध्वनियां आप इस कृति के पहले प्रकाशित काव्य–संकलन 'इन दिनों' और अन्य पूर्व संकलनों में भी सुन सकते हैं। जीवनानुभव और संवेदन को गहरे काव्य में जिस संकेत और ध्वनि में प्रकट होना होता है, उसका एक बहुत ही सुथरा रूप 'वाजश्रवा के बहाने' में मिलता है।

वाणी में कवित्व हो
कर्कश तर्क–वितर्क का घमासान नहीं
कल्पना में इंद्रधनुष के रंग हों
ईर्ष्या–द्वेष के बदरंग हादसे नहीं
निकट संबंधों के माध्यम से
बोलता हो पास पड़ोस
और एक सुपरिभाषित, एक श्लोक की तरह
सुगठित और अकाट्य हो
जीवन–विवेक।' (पुन: एक की गिनती से, पृष्ठ–120)

विनम्र समरसता, अकाट्य तर्क और जीवन–विवेक से ही सावित्री ने यम के सामने सत्यवान के प्राण लौटाने के अलावा कोई विकल्प नहीं छोड़ा था।

इसे संयोग कहें या अवचेतन पर पड़े बिंब या यथार्थ दृष्टि, कि उपनिषद् की तरह 'वाजश्रवा के बहाने' में नचिकेता सदेह यम के पास नहीं जाता केवल उसके 'प्राण' जाते हैं, मृत देह धरती पर पड़ी रहती है, जबकि उपनिषद् में वह कहता है– 'सस्यामिव मर्त्य: पच्यते सस्यमिवाजायते पुन:' (कठोपनिषद्–1.1.6) अर्थात् मेरे पहले जो भी यमलोक गए हैं वे पृथ्वी में समाने के बाद ही गए हैं, फिर आए हैं तो पृथ्वी से ही, पुनर्जन्म लेकर। 'वाजश्रवा के बहाने' में नचिकेता की मृत देह ही वाजश्रवा द्वारा प्राण की पुकार बन सकी है। सावित्री–आख्यान में सावित्री सत्यवान की मृत देह को पृथ्वी पर ही छोड़ कर यम का पीछा करती है और यम द्वारा आश्वासन पाने पर लौट कर उसका सिर अपनी गोद में रखती है। कुछ ही क्षणों में वह जीवित हो जाता है। सावित्री–आख्यान से केवल इस घटना–साम्य में ही नहीं, बल्कि पूरे काव्य में सकारात्मकता, सेतुता और सौम्यता का विधान सावित्री–आख्यान की तरह लगता है।

प्रारंभ में वाजश्रवा और नचिकेता दोनों एक–दूसरे को गलत समझते हैं, इसलिए दोनों के मूल तेवर टकराहट और आक्रोश के हैं। एक क्रोध, दंभ, लोभी, अविवेक और अतार्किकता है, दूसरा जिद, अनम्यता और अकुशलता से भरा। स्थायी दुर्घटना से आघात के बाद पश्चाताप और संयोग वश पुत्र के लौटने पर शांत और सकारात्मक हो जाता है। इस तरह उसका व्यक्तित्वांतरण हो जाता है, उसी तरह वापसी के बाद नचिकेता को पराजीवन का सत्य पाने की अयोग्यता के कारण प्राप्त विफलता के बाद जीवन–विवेक का यथार्थ समझ में आता है जो किसी उत्तेजना या हड़बड़ी से नहीं पाया जा सकता। उसके लिए प्रशांत अग्नि में सीझना होता है। उसके लिए यथार्थ का दामन छोड़ने की जरूरत भी नहीं, मनुष्य को एक जीवन–नीड़ चाहिए जहां अनंत उड़ान भर कर भी लौटा जा सके –

'उसकी इच्छा होती

कि यात्राओं के लिए असंख्य जगहें और
अंनत समय हो
और लौटने के लिए हर समय
हर जगह अपना एक घर'
(पिता से गले मिलते, पृष्ठ-79)

सावित्री में ये सारे समन्वय और संतुलन आद्यंत बने हुए हैं। ऊपर की सारी वैचारिक विकास-प्रक्रिया इस काव्य के संदर्भ में रेखांकित करने का अर्थ प्रभाव ढूंढ़ना नहीं है, केवल यह है कि एक भारतीय मानस की दार्शनिक और सांस्कृतिक अवधारणा में अनायास साम्य होता है और अगर आज के इस निषेध की खाई को पार करना है तो हमारे लिए यही मार्ग काम्य है। सारे द्वंद्वों के बाद अंतत: महाभारत जिस सौम्य, साम्य-भूमि पर उतरा है; अपनी त्रुटियों के लिए यदि ईश्वर को भी मरना पड़ा है, सत्ता के शिखर पर पहुंचे पांडवों को हिमालय के ताप में गलना पड़ा है, वह एक युद्ध काव्य को किस तरह दुनिया के युद्ध काव्यों से अलग करता है। गौतम बुद्ध संसार के सारे दु:ख-व्यापार की यात्रा करके ही समाधान की राह दिखाते हैं। बीसवीं सदी का महान काव्य 'कामायनी' क्यों इस निष्कर्ष पर पहुंचता है:

'नित्य समरसता का अधिकार,
उमड़ता कारण जलधि समान,
व्यथा की नीली लहरों बीच
बिखरते सुख मणि गण द्युतिमान।'
(श्रद्धा, पृष्ठ- 54)

मानवेन्द्र राय का रैडिकल ह्यूमनिज्म क्यों कहता है कि विश्व द्वंद्व पर नहीं टिका है समन्वय पर टिका है, वरना अभी तक कभी का खत्म हो जाता? और हमारा युग-पुरुष गांधी जिस सत्याग्रह, अहिंसा और समन्वय से बीसवीं सदी में विश्व का सबसे बड़ा युद्ध जीत चुका है, अगर वहीं कुंवर नारायण पहुंचते हैं तो यह अनुकरण नहीं, भारतीय स्वभाव के चिंतन की मौलिकता है, जो उसकी साधना, उसके मंत्रों, प्रार्थनाओं, यज्ञों, काव्यों (व्यापक अर्थ में) और जीवन-आचारों... मे बसती है- बशर्ते उन्हें हम अपनी पावन नदियों की तरह प्रदूषित न कर दें।

यह हमेशा याद रखना चाहिए कि सभी माएं एक ही प्रक्रिया और एक ही पीड़ा से संतति को जन्म देती हैं तो वे एक-दूसरे की नकल नहीं कर रही हैं।

कुंवर नारायण का एक खंड है- वे दो लगते हुए भी एक ही थे क्योंकि-

'आशय एक ही था
क्योंकि आधार एक ही था।'

इसके विस्तार में न जा कर मैं केवल गोविंद चंद्र पांडे का यह वाक्य उद्धृत करना चाहता हूं यहां 'भेद की तादात्म्यमूलकता अनोखे ढंग से व्यक्त है।' बहरहाल कुंवर नारायण का काव्य संघर्ष और नकार का काव्य नहीं है, वे समझाते हैं -

'सब कुछ हमारे विरुद्ध नहीं है
अधिक कुछ हमारी ओर है (पृष्ठ-143)
और
हर समय हम लड़ नहीं रहे हैं
उससे कहीं अधिक समय हम जी रहे हैं-
एक सौहार्द के बल पर
सद्भावना के इस रूपक में अधिक दम है,
युद्ध की जरूरत
बुद्धि की हार की सबसे बड़ी शर्म है।
(तीन रातें, पृष्ठ-144)

कुंवर नारायण कहते हैं कि 'एक अन्य प्रारंभ' के लिए अतीत के ईर्ष्या-द्वेष, युद्ध-संघर्ष, गिले-शिकवे भूलना चाहिए और नई शुरुआत करना चाहिए -

'उठाओ संकल्प की पहली ईंट
स्मृति-शिलाओं से ज्यादा जरूरी है
शिलान्यास। (एक अन्य प्रारंभ, पृष्ठ-56)

ये स्मृति-शिलाएं भीतर जमी द्वेष की स्मृतियां हैं। 'पूर्व-कथन' में कवि ने कहा है- 'पिता-पुत्र के संबंधों को मूलत: द्वंद्वात्मक ढंग से न देख कर संयुक्त या दोहरी जीवन शक्ति के रूप में देखा गया है। 'क्षमाभाव' और 'पश्चाताप' इसी शक्ति के द्योतक हैं। इसीलिए वाजश्रवा का एकालाप अदृश्य रूप से नचिकेता से संयुक्त हो गया है क्योंकि दोनों का 'आशय' और 'आधार' एक ही है।

'वाजश्रवा के बहाने'- निश्चय ही एक जटिल काव्य है। इसका मुख्य कारण यह है कि इसके भीतर 'कथावस्तु' सुमरनी के धागे-जैसी कभी-कभी झांकती है। कृति में मुख्य रूप से जीवन और सृजन के अनुभव और विचार हैं, जिनमें संस्कृति, दर्शन, मनोविज्ञान, समय-सजगता आदि हैं और इनके ढेरों संदर्भ हैं, कथाएं-अंतर्कथाएं हैं। आप सीधे-सीधे काव्य-भाषा के सतही उपकरणों से कृति को नहीं पा सकते, हर कुछ के भीतर गहरी अंतर्यात्रा से ही काव्यार्थ और तत्त्वार्थ पढ़ा जा सकता है और यह हर गहरे काव्य तक पहुंचने की नियति है।

'वाजश्रवा के बहाने' की भाषा इतनी सर्जनात्मक है- और शायद इसीलिए जटिल भी, कि कई बार वह स्वयं कथ्य प्रतीत होती है। असल में कुंवर नारायण के पूरे काव्य संसार में यथार्थ चिंतन की गहनता में, बोध में, अर्थ की तहों में निहित है और यदा-कदा उसमें समय और घटनाओं के चिन्ह भी उभरे हैं। इसकी स्पष्ट ध्वनियां आप इस कृति के पहले प्रकाशित काव्य-संकलन 'इन दिनों' और अन्य पूर्व संकलनों में भी सुन सकते हैं। जीवनानुभव और संवेदन को गहरे काव्य में जिस संकेत और ध्वनि में प्रकट होना होता है, उसका एक बहुत ही सुथरा रूप 'वाजश्रवा के बहाने' में मिलता है।

कुंवर नारायण के यहां अनेक अर्थ-छवियां पाठक के लोकतंत्र का निर्माण करती हैं। वे यदि किसी कवि से अधिक नहीं तो कम भी नहीं हैं। इसलिए उनके अनेक पाठ हो सकते हैं। 'वाजश्रवा के बहाने' एक भिन्न और नया काव्य-प्रकार है। यह न प्रबंध काव्य है, न निर्बंध काव्य। इसकी काव्यात्मक बुनावट अनोखी है। पचासों सार्थक अंतरालों और अनेक व्यंजक खंडों की इस कृति में अर्थ की सघनता है। मुझे लगता है कि हिंदी में 'कामायनी' के बाद 'वाजश्रवा के बहाने' दूसरी गहरी अर्थवान रचना आई है, जो उस परंपरा को बदले हुए समय-शिल्प के अनुरूप आगे बढ़ाती है। ■

PUSTAK VARTA JAN-FEB-2015 FINAL_JULY-AUGUST 2014.qxd 21-06-2015 18:35 Page 30

संबंधों की उष्मा को जीवित करने की ख्वाहिश

■ **अरुण होता**
प्राध्यापक एवं आलोचक

संपर्क: 2 एफ़ धर्मतल्ला रोड, कस्बा, कोलकाता-700042 (प. बंगाल)

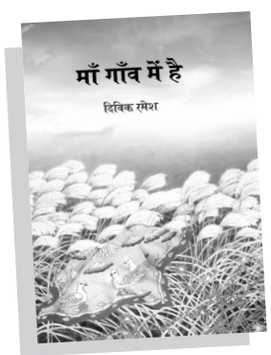

पुस्तक: मां गांव में है,
कवि: दिविक रमेश,
प्रकाशक: यश पब्लिकेशंस, दिल्ली
प्रकाशन वर्ष: 2015
मूल्य: ₹ 395

'**कितनी** आर्द्र होते हैं न मेघ
हमारी स्मृतियों के
और कितनी स्वप्नजीवी होती हैं न हमारी स्मृतियां भी
लिपटी रहती हैं जो हमसे कसी कसी रात
और दिन भी।' (मां गांव में है, पृष्ठ-135)

वरिष्ठ कवि दिविक रमेश के नौवें कविता-संग्रह से उद्धृत उपर्युक्त काव्य-पंक्तियों में कवि की सामर्थ्य का पता चलता है। साथ ही, उसके सृजन जगत का आभास भी हो जाता है। स्मृतियों का लिपटे रहना अतीतजीविता नहीं है। स्मृतियों का स्वप्नजीवी होना नव सृजन की ओर उन्मुख होना है। सच है कि स्मृति कविता नहीं बनती है लेकिन, स्मृति थके-मांदे जीवन में नई उमंग और नई प्रेरणा भर सकती है। उत्तर आधुनिक समय में मानव जीवन यंत्रवत बनता जा रहा है। निर्जीव और निस्पंद जीवन में स्मृति के महत्त्व को कवि भलीभांति महसूस करता है। इसलिए वह प्रतीक्षारत है स्मृति का। वह जानता है कि स्मृति बची रहेगी तो संवेदना जीवित रहेगी।

दिविक रमेश की कविता में मनुष्यता को बचाने की बड़ी कोशिश है। उन्होंने साफ शब्दों में कहा भी है-

'आदमी चुकता नहीं है
हमें बचाना है आदमी को चुकने से
नहीं सोचना
क्या करता है आदमी
हमें बचाना है आदमी को।'

दिविक रमेश संबंधों के कवि हैं। संबंधों की ऊष्मा को जीवित करने का प्रयास करने वाले कवि हैं। मां, पिता, पुत्री आदि आत्मीय जनों के संबंध में जितनी संबद्धता पाई जाती है, गांव, घर, कस्बा, महानगर, देश, काल, वातावरण आदि के प्रति भी कवि की संपृक्ति पाई जाती है। संवेदना की व्यापकता से कवि की दृष्टि व्यापक होती है। यूं देखा जाए तो संबंध की मजबूत नींव पर सृष्टि खड़ी रहती है। संबंध बहुत खूबसूरत होते हैं। इन्हें सहेज कर रखने की बड़ी जरूरत है। कवि की बेहतरीन कविताओं में से 'संबंध' शीर्षक कविता का उल्लेख किया जा सकता है। कवि ने लिखा है-

'ये संबंध ही हैं न जो भूतों और आत्माओं तक का करते हैं सृजन
ये संबंध ही हैं न जिन्होंने पुजवाया है नदियों,
पहाड़ों और समुद्रों को
प्राण दिए हैं जिन्होंने पत्थरों, शिलाओं को।'

कवि ने संबंधों के निर्माण और निर्वाह पर जोर दिया है। संवेदनशील दृष्टि के साथ जीवन के सार तत्व को, संबंधों की कलात्मक अभिव्यक्ति को प्रस्तुत करते हुए लिखा है-

'मिसिर जी बतावें जरा आप ही
कौन हैं हम और आप ही
चोट हमें लगती है और दर्द आपको
यह ससुर संबंध नहीं तो और क्या है मिसिर जी।'

दिविक रमेश ने संबंधों के विविध संदर्भों और परिप्रेक्ष्यों को जिस कलात्मकता के साथ उकेरा है, वह प्रशंसनीय है। मां, पुत्री से लेकर अंतरराष्ट्रीय संदर्भों में कवि ने संबंध के विभिन्न रूपों को अभिव्यक्त किया है। 'एक भारतीय पत्र मित्र इनद के नाम' शीर्षक कविता में अंतरराष्ट्रीय संबंध की काव्यिक प्रस्तुति देखी जा सकती है-

'जाने कैसा होगा अब
मेरे मित्र इनद का इराक
और कैसे होंगे तुम खुद मित्र इनद
कोसने के बावजूद सद्दाम को
कितनी तो नफरत थी तुम्हें अमरीका से।'

निजी संबंधों से लेकर अंतरराष्ट्रीय सवालों तक जूझने वाली कवि की कविता का सरोकार मनुष्य की खोज से है। 'मैं ढूंढ़ता जिसे था' की निम्नलिखित पंक्तियां दृष्टव्य हैं-

'उफ् भागते भागते दम फूल गया है
तुम्हें कहां ढूंढूं आदमी।'

इस संग्रह की एक उम्दा कविता है 'डोलू'। यह कविता जितनी सहज है, उतनी ही प्राणवंत। यह अत्यंत

PUSTAK VARTA JAN-FEB-2015 FINAL_JULY-AUGUST 2014.qxd 21-06-2015 18:35 Page 31

नवल किशोर की एक कलाकृति

प्रभावित करने वाली कविता है। बाल्यावस्था की डोलू के बाल सुलभ क्रियाकलापों के माध्यम से कवि ने मनोरम बिंब अंकित किए हैं–

'डोलू चढ़ती है कंधे पर
तो हर पहाड़ हो जाता है बौना
डोलू चलाती है पांव
तो उमड़ उठती हैं लहरें समुद्र में।'

'डोलू' कविता के साथ 'बेटी ब्याही गई है' शीर्षक पढ़ी जाए तो कवि की सामाजिक दृष्टि का पता चलता है। मध्यवर्गीय समाज की मानसिकता का अंकन भी दिखाई पड़ता है। ब्याही गई बेटी के प्रति पिता–माता का रवैया संवेदनशील हृदय को चिंतित करता है। भारतीय समाज में नारी की विवशता भी प्रदर्शित होती है–

'सोचते हैं कितनी भली होती हैं बेटियां
कि आंखों तक आए प्रश्नों को
खुद ही धो लेती हैं
और वे भी असल में टाल रही होती हैं
टाल रही होती हैं
इसलिए तो भली भी होती हैं।'

'बूढ़ा' शीर्षक कविता में दिविक रमेश ने बड़ी सहृदयता के साथ बुजुर्ग पीढ़ी की व्यथा के साथ–साथ उपभोक्तावादी समाज की विडंबना को भी उकेरा है। 'बूढ़े बैल सा' अनुपयोगी पिता के प्रति न आदर का भाव रह गया है और न ही उनके प्रति कृतज्ञता का भाव। उनकी मृत्यु के बाद वे फोटो में ही सीमित कर दिये जाते हैं। कवि की चिंता है कि पिता की मृत्यु के बाद बस एक सूचना बनकर रह जाती हैं। ऐसी स्थिति में मानवीय मूल्य को गहरा आघात लगता है। इसी क्रम में 'एक दृश्य संवाद' में सभ्यता के सामने खड़े संकट की काव्यात्मक अभिव्यक्ति प्रकट होती है। इसमें 'कवि कर्तव्य' का भी उल्लेख मिलता है –

'शायद निकल ही पड़ना चाहिए
कवियों को
छान ही लेना चाहिए चप्पा–चप्पा
इनकी खोज में मिट्टी का
ताकि रह न जाए वंचित
पाताल से धरती और धरती से पाताल तक
की

PUSTAK VARTA JAN-FEB-2015 FINAL_JULY-AUGUST 2014.qxd 21-06-2015 18:35 Page 32

सबसे कोमल फुनगियां।'

'रिश्ता-ठीक वही रिश्ता', 'रिश्ता-भिगो दूंगा', 'राग', 'रगबीरा' आदि अनेक कविताओं के माध्यम से कवि का संबंधों के प्रति प्रबल आग्रह स्पष्ट होता है। मजबूत रिश्तों से सामाजिक तथा सांस्कृतिक संबंध दृढ़ होते हैं। कवि इसे जानता समझता है। इसलिए उसकी कविता में एक गहरी आत्मीयता का बोध रहता है। यह अपनापन आत्मीय जन के लिए है तो रगबीरा से भी-

'रगबीरा रोता है
पतझड़ नहीं आता
रगबीरा हंसता है
बसंत नहीं खिलता।'

दिविक रमेश की कविताओं के विविध स्तर हैं। कहीं स्थानिकता तो कहीं वैश्विकता, कहीं वैचारिक तो कहीं सामाजिक स्तर से युक्त हैं। कहीं कवि की चिंता सीधे-सादे सहज ढंग से व्यक्त होती है, तो कहीं व्यंग्यात्मक लहजे में। जहां भी वह व्यंग्य को अपनी अभिव्यक्ति का आधार बनाता है वहां कवि-कर्म विशिष्ट बन जाता है। दिल्ली में चल रहे मैट्रो निर्माण के एक हादसे के संदर्भ में लिखी गई कविता 'सब मंगलमय है' का स्मरण किया जा सकता है। 'मंगलमय' अत्यंत व्यंजनाधर्मी है। हादसे के बाद भी मुखिया श्रीधरन, निर्माता कंपनी, ठेकेदार आदि को मंगल ही मंगल दिखायी पड़ रहा है। मजदूरों, अबोधों का रक्त पीकर 'मंगलमय' घोषित करना समय का सच है ओर बड़ी विडंबना है।

इसी तरह, मंटो की मशहूर कहानी 'खोल दो' के आधार पर 'खोल दो: पुनश्च' में अमानवीयता की क्रूरता का चित्रण है। गुजरात में हुए सांप्रदायिक दंगों से शर्मसार हुई मानवता को रेखांकित करते समय कवि का युग बोध खुलकर प्रकट होता है-

'हम तो यह भी नहीं जानते थे
कि हिंदू जनेऊ होता है
कि हिंदू तिलक होता है
और मुसलमान इंसान से कुछ अलग
भी होता है।'

दविक रमेश की कविताओं के विविध स्तर हैं। कहीं स्थानिकता तो कहीं वैश्विकता, कहीं वैचारिक तो कहीं सामाजिक स्तर से युक्त हैं। कहीं कवि की चिंता सीधे-सादे सहज ढंग से व्यक्त होती है, तो कहीं व्यंग्यात्मक लहजे में। जहां भी वह व्यंग्य को अपनी अभिव्यक्ति का आधार बनाता है वहां कवि-कर्म विशिष्ट बन जाता है।

दिविक की कविता लोकोन्मुखी है। अनके सभी संग्रहों में उनकी लोकोनमुक्ति साफ नजर आती है। स्थानिकता कवि की विशेष प्रवृत्ति है। लोक मैं प्रचलित शब्दों और मुहावरों के खुलकर प्रयोग करने में कवि पीछे नहीं हटता है। यह प्रवृत्ति उसे अपने समकालीनों से भिन्न रूप प्रदान करती है। धान्ने, कूण, राम्हेर, भुल्ले, चोख्खा, तन्नै, पीजा, चाल्लू, रूखाली, टिक्कड़, सिट्ठे, गोड़ी, खरोड़, ओसन आदि तमाम स्थानीय शब्दों को कविता लोक में लाकर जीवित करने का प्रयास बड़ा प्रशंसनीय है।

दिविक रमेश की कविता गांव और नगर की परिक्रमा करती है। कहीं उनकी कविता गांव के वातावरण और उसके जीवन को अंकित करती है तो कहीं महानगर के बिंब प्रस्तुत करती है। गांव और महानगर की आवाजाही से उनका रचना-संसार समृद्ध भी हुआ है। ऐसी अनेक कविताएं हैं जहां गांव और नगर अथवा महानगर का समन्वित रूप दृष्टिगोचर होता है। 'मां गांव में है' कविता इसका सबसे सुंदर उदाहरण बन सकती है। मां और गांव के अभिन्न संबंध को महानगरीय जीवन स्थिति के संदर्भ में बखूबी उकेरने में कवि को सफलता मिली है। कवि ने लिखा है-

'मां आती
बिना किए घोषणा
तो थोड़ा बहुत ही सही
गांव तो आता ही है न
शहर में।'

दरअसल, मां और गांव अभिन्न हैं। मां का शहर में आना गांव का भी आना है। स्मृति और रिश्ते का ऐसा अपूर्व समन्वय कम कविताओं में मिलता है। पूरी कविता में कवि के तादात्म्य को महसूस किया जा सकता है। खेत, खलिहान, चौपाल, दालान, आंगन आदि के साथ मां और गांव दोनों अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। अमानवीयता, क्रूरता, आत्मकेंद्रिकता, स्वार्थपरता आदि जो शहर में व्याप्त थीं, अब वे गांव को भी अपने कब्जे में लेने लगी हैं। बावजूद इसके मां का गांव में होना एक बड़ी संभावना का द्योतक है। खुशी की बात है कि लंबे अरसे के शहरी जीवन बिताने के बावजूद कवि की रचना में गांव जीवित होकर आया है।

दिविक रमेश की रचनाधर्मिता में जो कुछ भी बचा हुआ है उसे बचाए रखने की चिंता बार-बार जाहिर होती है। सच है कि पूंजीवादी, बाजारवादी व्यवस्था ने बहुत कुछ समाप्त कर दिया है। लेकिन, कवि निराश नहीं है, हताश तो कदापि नहीं है। 'बहुत कुछ है अभी' कविता की निम्नलिखित पंक्तियां पढ़ी जा सकती हैं-

'क्षितिजों के पास हैं अभी आकाश
आकाशों के पास हैं अभी शब्द
शब्दों के पास हैं अभी कविताएं
कविताओं के पास हैं अभी मनुष्य
मनुष्यों के पास हैं अभी पृथ्वी।'

इसी तरह, कवि की इच्छा बस इतनी-सी

है कि थोड़ी-सी आग बची रहे। यह आग संबंधों की ऊष्मा की है-

'बस इतना भर चाह रहा था
कि आग अभी बची रहे रुकने से
हो चूल्हे की
या देह में बची कुछ सांसों की।
और हां बची रहे यह टेक भी
कि कोई चाहता भी है रुकना अपने से।'

तेजी से बदलती हुई दुनिया में जीवन-मूल्यों के आधारभूत ढांचे में भी तेज बदलाव हो रहा है। मनुष्य उसके चक्रव्यूह में फंसता चला जा रहा है। ऐसी स्थिति में कवि स्पष्टतया कहता है-

'मेरा विश्वास हाड़ को हाड़
और रक्त को रक्त कहने में है
न मैं रक्त को पानी कह सकता हूं
और न पानी को 'अमृत' ही।'

'एक अनंत कथा' शीर्षक कविता में कवि ने आम आदमी के उलझाव को तथा उसके समय को साधन अनुभूति के आधार पर प्रस्तुत किया है-

'तड़फता हुआ आदमी मक्कार और
मांगता हुआ आदमी घुन्ना-
यह कैसा युग है नहीं जानता
जहां देता दिखता आदमी असल में
जेब काटता है
और रो रहा आदमी आपकी हंसी
उड़ाता है'

सादगी दिविक रमेश की कविता की अप्रतिम विशेषता है। अक्सर यह सादगी आडंबरहीन रूप में अभिव्यक्त हुई है। न तो चौंकाने वाली भाषा का प्रयोग मिलता है और न ही नये ढंग से अभिव्यक्त करने की बेचैनी। लेकिन यह सादगी यूं ही हासिल नहीं होती। दीर्घ लेखन के अनुभव के आधार पर सादगी अर्जित होती है। चंद शब्दों में अपने भावों को अभिव्यक्त कर पाने की सामर्थ्य कुछ ही कवियों को प्राप्त होता है। दिविक रमेश की कविताओं के संदर्भ में यह बात लागू होती है।

दिविक रमेश की कविता न तो स्वागत कथन है और न ही आत्मश्लावा को बढ़ावा देती है। उनकी कविता पाठक से सीधा संबंध स्थापित करती है, संवाद करती है और अपने युगीन संदर्भों से जुड़ कर अर्थवत्ता को साकार करती है। अपने समय के सजग कवि की तरह उनकी कविता युगीन यथार्थ को उद्घाटित करती है-

'नहीं जानता यह कैसा युग है
और भी आगे का
तुलसी का कलियुग
कि सबसे खतरनाक आदमी
वह दिखता है
जो कर रहा होता है प्रार्थना'

इसी तरह धार्मिक असहिष्णु वातावरण में कवि लिखता है- 'जला देना होगा प्रार्थनाओं-स्तुतियों को'। इस कविता की चंद पंक्तियां-

सादगी दिविक रमेश की कविता की अप्रतिम विशेषता है। अक्सर यह सादगी आडंबरहीन रूप में अभिव्यक्त हुई है। न तो चौंकाने वाली भाषा का प्रयोग मिलता है और न ही नये ढंग से अभिव्यक्त करने की बेचैनी। लेकिन यह सादगी यूं ही हासिल नहीं होती। दीर्घ लेखन के अनुभव के आधार पर सादगी अर्जित होती है। चंद शब्दों में अपने भावों को अभिव्यक्त कर पाने की सामर्थ्य कुछ ही कवियों को प्राप्त होता है।

'नहीं, तुम क्रूर हो, आतंकवादी,
दुष्ट हो साम्राज्यवादी
और तुम महज आपदा हो.....
तुम नहीं ईश्वरजनी, तुम पाप हो,
आघात हो विश्वास पर'

दिविक रमेश की कविताओं में मानव, प्रकृति और प्रेम का अच्छा सम्मिश्रण है। प्रकृति के प्रति कवि की अपार प्रेम भावना के साथ-साथ प्रकृति और पर्यावरण संबंधी चिंता जाहिर होती है। 'प्यार', 'आगमन', 'प्यास', 'नन्हा पौधा', 'संपूर्ण यात्रा', 'उसने कहा था' आदि अनेक कविताओं को सम्मिलित रूप में पढ़ा जाए तो कवि की जीवन दृष्टि का पता चलता है। 'उसने कहा था' शीर्षक कविता में कवि ने लिखा है-

'मेरे निकट आओ, मेरा ताप तापो
और सेंको
यह किसी अग्नि या सूर्य ने नहीं
उसने कहा था।'

'चेजू द्वीप की यात्रा में' हो अथवा 'अफगान महिलाएं (2001)'- इनके माध्यम से कवि के जीवनानुभव की ईमानदार अभिव्यक्ति हुई है। इन कविताओं में कवि ने संवेदनात्मक साहचर्य का परिचय दिया है। कई कविताएं कलेवर में छोटी हैं लेकिन वे बड़े संदर्भ की हैं। कवि की कविताएं समकालीन चुनौतियों से पीछे नहीं हटतीं बल्कि उनसे टकराने और जूझने का सूत्र भी प्रदान करती हैं। संबंधों और स्मृतियों के सहारे मानव विरोधी शक्तियों से लड़ने का साहस प्रदान करती हैं। दिविक रमेश की कविता 'उम्मीद' मनुष्य को उम्मीद बंधाती है-

'समय ठहरता है तो जागती है उम्मीद
अंखुवाते ही ताकत उम्मीद की
काल हो जाता है रफू चक्कर।
बहुत दूर तक खुल जाते हैं रास्ते
पड़ाव हो उठते हैं दीप्त
लगता है ब्रह्मांड ही उतर आया हो
खुले रास्तों पर।
और सिमट गया है भेद
आदमी और देवता का।' ■

PUSTAK VARTA JAN-FEB-2015 FINAL_JULY-AUGUST 2014.qxd 21-06-2015 18:35 Page 34

समीक्षा

सिनेमा के सम्मोहन की गहरी समझ

■ **विनोद अनुपम**
सुप्रसिद्ध फिल्म समीक्षक

संपर्क : बी-53, सचिवालय कॉलोनी, कंकड़बाग, पटना-800020

पुस्तक: अंडरस्टैंडिंग द आर्ट ऑफ सिनेमा
लेखक: आर एन दाश
प्रकाशक: ओरिऐंटल अकेडमी ऑफ आर्ट्स एंड लेटर्स शहीदनगर भुवनेश्वर-751007
प्रकाशन वर्ष: 2013
मूल्य: ₹350

1926 में महात्मा गांधी ने 'यंग इंडिया' में सिनेमा की आलोचना करते हुए लिखा था- 'इसका बुरा प्रभाव प्रतिदिन जबर्दस्ती मेरे ऊपर पड़ता है'। 1935 में प्रेमचंद 'हंस' में लिखते हैं- 'सिनेमा अगर हमारे जीवन को स्वस्थ आनंद नहीं दे पाता है, हममें निर्लज्जता और धूर्तता और कुरुचि को बढ़ाता है, और पशुता की ओर ले जाता है, तो जितनी जल्दी उसका निशान मिट जाए, उतना अच्छा'। वृंदावनलाल वर्मा ने भी कभी लिखा था, 'सिनेमा को काली मैया उठा ले जाएं।'

वास्तव में यदि कोसने से ही बुराइयों का अंत होना होता तो अब तक हमलोग रामराज्य में रह रहे होते। किसी भी बुराई की उपेक्षा कर उसे समाप्त नहीं किया जा सकता। समाप्त करने के लिए कोशिश करनी पड़ती है। 1965 में वृंदावनलाल वर्मा ने भी इसे महसूस करते हुए लिखा था, 'फिल्म का प्रभाव दर्शक-श्रोता पर बहुत शीघ्र और गहरा पड़ता है। गंदी फिल्मों की बहुतायत है, जो समाज को पतन की ओर ले जा रही है। अपनी संस्कृति की रक्षा और देश के ऊंचे आदर्शों को बचाने, ऊपर लाने की बड़ी आवश्यकता है। लेकिन चिंता की बात है कि क्या इतने प्रभावशाली माध्यम के नकारात्मक प्रभाव को सकारात्मक बनाने के लिए कोई सक्रिय प्रयास किए गए? इस प्रश्न के प्रकाश में देखें तो फिल्म अध्येता आर एन दाश की अंग्रेजी में लिखी पुस्तक 'अंडरस्टैंडिंग द आर्ट ऑफ सिनेमा' एक बड़ी शुरुआत मानी जा सकती है।

ओरिएंटल एकेडमी ऑफ आर्ट्स एंड लेटर्स द्वारा प्रकाशित यह पुस्तक विश्व में सिनेमा के विकास से रू-ब-रू कराते हुए सिनेमा के बारे में एक संपूर्ण समझ देने की कोशिश करती है। सिनेमा की ताकत का सबसे बड़ा कारण सिर्फ यही नहीं है कि हम चीजों को-घटनाओं को वैसे ही देखते हैं, जैसा वह है या हुआ है। बल्कि मानसिक रूप से हम भी घटनाओं के अंदर होते हैं। वास्तव में किसी भी दृश्य के केंद्र में दर्शकों के आंख और कान के साथ दिमाग की भी सहभागिता जरूरी होती है। सिनेमा की यह विशेषता है कि यह जितनी सामने दिखती है उतनी ही हमारे दिमाग में भी बनती है। आश्चर्य नहीं कि लुई बुनेवेल ने माना था सिनेमा हमारे दिमाग पर अफीम सा असर करता है। मानसिक रूप से अपने आप को दृश्य के अंदर महसूस करवा लेने की क्षमता ही है जो सिनेमा को इस कदर संप्रेष्य बनाती है कि करोड़ों लोग बिना किसी फिल्मी भाषा और तकनीक की समझ के टिकट खरीदते हैं, फिल्म देखते हैं और अपनी जरूरत के अनुसार उसे समझते-स्वीकार करते है। साहित्य या कला को यह सुविधा उपलब्ध नहीं है, साहित्य या कला का रसास्वादन हम तब तक नहीं कर सकते जब तक कि उसके व्याकरण की मोटी समझ भी न हो।

सिनेमा ने अपने लिए ऐसी स्वाभाविक भाषा का चुनाव किया है जो सामान्य मनुष्य की मात्र आभासी क्षमता के सिद्धांत पर आधारित होती है। यहीं पर आवश्यकता फिल्म एप्रिशिएशन की होती है, आर एन दाश पुस्तक के आरंभ में ही लिखते हैं, आम दर्शकों के लिए सिनेमा बस एक मनोरंजन है, देखा और आनंद उठाया। लेकिन सिनेमा की उचित समझ सिनेमा के आनंद को बढ़ा देती है। यह वैसा ही है जैसे किसी ऐतिहासिक स्थल पर पर्यटन का आनंद तो हर कोई उठा सकता है, लेकिन निश्चित रूप से उसका आनंद अलग होता है जिसे स्थान विशेष के संपूर्ण ऐतिहासिक संदर्भों की जानकारी होती है।

'अंडरस्टैंडिंग द आर्ट ऑफ सिनेमा' को दाश संदर्भ सूची के अतिरिक्त सोलह शीर्षकों के अंतर्गत संयोजित करते हैं- 'सिनेमा की तकनीक', 'वीडियो और डिजीटल सिनेमा', 'विश्व सिनेमा का विकास', 'भारत में सिनेमा का आरंभिक

काल', 'आधुनिक भारतीय सिनेमा', 'सिनेमा के प्रकार', 'फिल्म निर्माण की प्रक्रिया', 'सिनेमा के विषय', 'बनावट और बुनावट', 'अभिनेता और अभिनय', 'सिनेमा में कला प्रबंधन', 'ऑडियोग्राफी और कोरियोग्राफी', 'सिनेमेटोग्राफी', 'संपादन कला' और अंत में 'सिनेमा की सामाजिकता'।

निश्चित रूप से ये सभी विषय अपने आप में पूरी पुस्तक की गूढ़ता रखते हैं। विदेशों में इन विषयों पर कई किताबें हैं, जिसका दाश अपनी संदर्भ सूची में उल्लेख भी करते हैं, लेकिन भारत के लिए जहां सिनेमा पर काम होना अभी शेष है, वहां पुस्तक में प्रस्तुत संक्षिप्त जानकारियां भी नई और पर्याप्त लगती हैं और कुछ हद तक विस्मित भी करती हैं।

फिल्म सेंसर बोर्ड की चर्चा करते हुए दाश यही नहीं बताते कि मुंबई में फिल्म सेंसर बोर्ड की स्थापना 6 अगस्त 1920 को हुई थी बल्कि यह भी बताते हैं कि पहली सेंसर होने वाली फिल्म 'गाउमोंट ग्राफिक 963-964' थी, जो 600 फीट लंबी थी और उसका निर्माण गाउमोंट कंपनी ने किया था। भारत में सेंसर होने वाली पहली फीचर फिल्म बाबू राव पेंटर की 'सैरंध्री' थी, जिसमें कीचक के वध के दृश्यों के कुछ अंश को हिंसा की अधिकता के कारण सेंसर कर दिया गया था।

विषय की चर्चा करते हुए दाश व्यवहारिक संदर्भों के साथ-साथ उनका उल्लेख करते हुए आगे बढ़ते हैं जिससे तकनीकी जानकारियां बोझिल नहीं होतीं और पाठकों की जिज्ञासा बनी रहती है। यह जानना दिलचस्प है कि सिनेमा के अविष्कारक लुमिएर बंधु शुरुआत में इसका व्यवसायिक इस्तेमाल नहीं चाहते थे। बाद में लोगों की मांग पर उन्हें व्यवसायिक शो पर सहमति देनी पड़ी। 'सिनेमा की तकनीक' पर लेख की शुरुआत सिनेमा शब्द के ग्रीक उत्पत्ति से शुरू होती है कि शुरुआती दौर में इसे

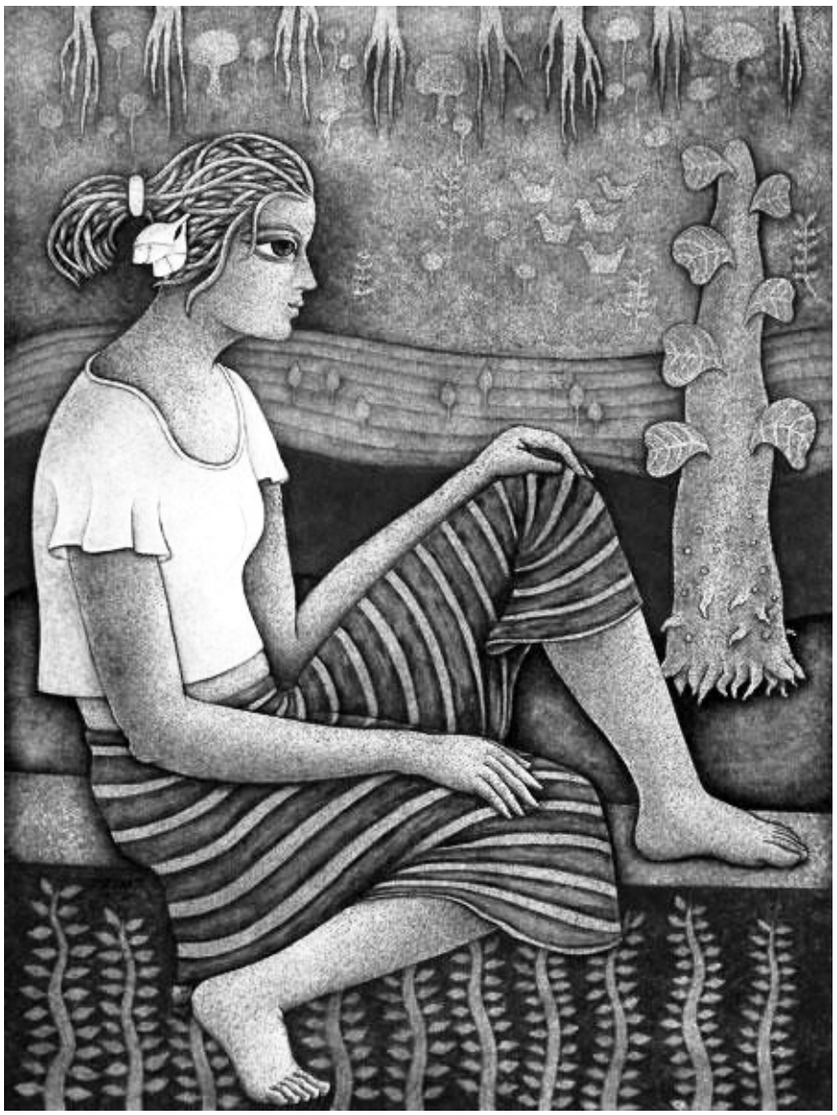

रामचंद्र पोकले की एक कलाकृति

'किनेमा' कहा जाता था, जिसका मतलब था गति। और फिर थामस अल्वा एडिशन के आरंभिक प्रयोग, लुमियर बंधुओं की सफलता, संपादन, एनिमेशन, कलर, थ्री डी, साउंड का परिचय देते हुए दाश सिनेमा स्क्रीन के फॉर्मेट के विस्तार तक जाते हैं। वे यह भी बताना जरूरी समझते हैं कि 1958 में बनी गुरुदत्त की 'कागज के फूल' सिनेमास्कोप फॉर्मेट में बनी भारत की पहली फिल्म थी।

वास्तव में भारतीय संस्कृति में जब सिनेमा को नाजुक मन बच्चों और किशोरों के लिए त्याज्य माना जाता था तो उसकी वजह सिर्फ यह नहीं कि उस समय तथाकथित 'गंदी फिल्मों' की बहुतायत थी, बल्कि उसकी सही वजह तत्कालीन भारतीय समाज की यह प्रौढ़ और वाजिब समझ थी कि सिनेमा कहीं न कहीं हमारे सोचने-समझने और कल्पना की क्षमता को क्षीण करती है। उन्हें आभास था कि 'क्रिस' की उड़ान बच्चों के मस्तिष्क को इस कदर कुंद बना सकती है कि वे अंधानुकरण में छत से छलांग लगा सकते हैं जबकि उनका 'स्वतंत्र' मस्तिष्क 'क्रिस'

PUSTAK VARTA JAN-FEB-2015 FINAL_JULY-AUGUST 2014.qxd 21-06-2015 18:35 Page 36

से भी ज्यादा उंची उड़ान भर सकता है।

वास्तव में हमारे मन में कोई कल्पना आकार लेती है तो हम उस कल्पना को साकार करने की कोशिश के पूर्व उसे तर्क पर कसते हैं, जबकि सामने साकार दिखते 'सत्य' को देख हमें तर्क करने की जरूरत ही महसूस नहीं होती। जितने ही जड़ मस्तिष्क के साथ हम उसे देखते हैं हमें उतनी सहूलियत होती है। उसकी सफलता इसी में है कि हम अपनी कल्पना की उड़ान को प्रतिबंधित कर अपनी समझ को उसकी समझ के आगे समर्पित कर दें। शायद इसी लिए सिनेमा अपनी विशेषता के रूप में इसे स्वीकार भी करती है। सुभाष घई, डेविड धवन जैसे लोकप्रिय फिल्मकार तो स्पष्ट कहते भी हैं, 'मेरी फिल्मों का आनंद लेना हो तो दिमाग छोड़ कर देखें।'

'सिनेमा की सामाजिकता' खंड में दाश नेहरू और लेनिन को उद्धृत करते हुए सिनेमा के प्रभाव को रेखांकित करते हैं। वे सिनेमा के प्रभाव और दुष्प्रभाव का एक संतुलित विवेचन रखते हुए पाठकों को इस निष्कर्ष के साथ छोड़ते हैं कि सिनेमा अब हमारी जिंदगी का हिस्सा बन चुकी है, अपनी तमाम अच्छाइयों और बुराइयों के साथ, तय दर्शकों को करना है कि वे क्या स्वीकार करते हैं और क्या अस्वीकार।

फिल्म की समझ की दृष्टि से पुस्तक का 'स्ट्रक्चर एंड फॉर्म' खंड, जिसे दाश 'अनाटमी ऑफ ए फीचर फिल्म' के उप शीर्षक के साथ प्रस्तुत करते हैं, खासतौर पर महत्वपूर्ण है। टाइटिल, ओपनिंग क्रेडिट, क्लोजिंग क्रेडिट जैसी गैर महत्वपूर्ण चीजें भी एक सिनेमा के प्रभाव में किस तरह प्रभावी भूमिका निभाते हैं, लेखक उदाहरण के साथ इसे रखते हैं। सिग्मेंट्स, सिमेंस, सीन और शॉट की व्याख्या करते हुए लेखक फिल्म को परत-दर-परत खोलने की कोशिश करते हैं। स्थापनाओं के साथ 'दिल तो पागल है' से लेकर 'भाग मिल्खा भाग' फिल्मों के उदाहरण पाठकों के लिए एक कठिन विषय को सहज बना देता है। स्क्रिप्ट पर विस्तार से चर्चा करते हुए दाश टाइम मैनेजमेंट को खासतौर पर रेखांकित करते हैं कि पटकथा में दृश्य के साथ दिख रहे कैलेंडर, घड़ी या पीछे से चले आ रहे दृश्यों का समय की गणना के साथ निर्वहन का भी उल्लेख होता है। वाकई इस खंड से गुजरते हुए यह अहसास होता है कि कुछ सेकेंड्स के दृश्य के लिए पटकथा लेखक को कितनी सावधानियां बरतनी पड़ती होगी, जो सही होती है दर्शक के लिए महत्वपूर्ण नहीं होती, यदि गलत हो जाय तो पूरे फिल्म के प्रभाव को धूमिल कर दे सकती है।

सिनेमा की संस्कृति अब सिर्फ कपड़े के फैशन और बालों के स्टाइल को प्रभावित नहीं कर रही है बल्कि अब इसने सामाजिक मूल्यों को भी प्रभावित करने की ताकत हासिल कर ली है। सामाजिक समस्याओं को सिनेमा ने अपने लगातार प्रभाव से इतना तरल बना दिया है कि हिंसा, अपराध, व्यभिचार, बलात्कार अब कुछ भी हमें बेचैन नहीं कर पाता। ऐसे में 'अंडरस्टैंडिंग द आर्ट ऑफ सिनेमा' किसी कुंजिका का महत्व रखती है, जो सही और गलत सिनेमा के चुनाव के लिए हमें तैयार करती है।

पुस्तक में प्रत्येक विषय के साथ अपेक्षित रेखाचित्र और फोटोग्राफ विषय की अनिवार्यता के रूप में दिखते हैं, जो सिनेमा जैसे नए विषय को समझने में मदद करते हैं। वास्तव में सिनेमा हम देखें या नहीं, यह अब हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं करता है। न्यूज चैनल पर भी सिनेमा के लिए अलग स्लॉट है, मनोरंजन चैनल पर भी और खासतौर से सिनेमा के लिए तो दर्जनों चैनल हैं ही।

सिनेमा की संस्कृति अब सिर्फ कपड़े के फैशन और बालों के स्टाइल को प्रभावित नहीं कर रही है बल्कि अब इसने सामाजिक मूल्यों को भी प्रभावित करने की ताकत हासिल कर ली है। सामाजिक समस्याओं को सिनेमा ने अपने लगातार प्रभाव से इतना तरल बना दिया है कि हिंसा, अपराध, व्यभिचार, बलात्कार अब कुछ भी हमें बेचैन नहीं कर पाता। ऐसे में 'अंडरस्टैंडिंग द आर्ट ऑफ सिनेमा' किसी कुंजिका का महत्व रखती है, जो सही और गलत सिनेमा के चुनाव के लिए हमें तैयार करती है।

लेकिन यह पुस्तक फिल्मकार बनाने का दंभ नहीं करती। लेखक स्पष्ट कहते भी हैं यह पुस्तक सिनेमा के विद्यार्थियों और सचेत सिनेमा दर्शकों के लिए उपयोगी हो सकती है जो सिल्वर स्क्रीन के पीछे के जादू को समझना चाहते हैं। बेशक, सिनेमा के सम्मोहन को समझने की समझ तो यह पुस्तक देती ही है। ■

PUSTAK VARTA JAN-FEB-2015 FINAL_JULY-AUGUST 2014.qxd 21-06-2015 18:35 Page 37

समीक्षा

हर कोई यहां ढूंढ़ रहा है अपना ही देश

■ **उमाशंकर चौधरी**
कथाकार एवं आलोचक

संपर्क: द्वारा-ज्योति चावला,
स्कूल ऑफ ट्रांसलेशन
स्टडीज एंड ट्रेनिंग 15 सी,
न्यू एकेडमिक बिल्डिंग,
इग्नू, मैदानगढ़ी,
नई दिल्ली-110068

पुस्तक : अपना ही देश
कवि : मदन कश्यप
प्रकाशक: किताबघर प्रकाशन,
नयी दिल्ली-110002
प्रकाशन वर्ष: 2015
मूल्य: ₹ 200

आज के समय और समाज में जब राजनीतिक, सामाजिक और सबसे अधिक सांस्कृतिक संकट गहराता जा रहा है तब साहित्य के लिए यह एक बहुत बड़ी चुनौती होती जा रही है कि वह अपने आप को कैसे बचाए। लेकिन इस विकट परिस्थिति में साहित्य इन चुनौतियों को पार कर इन संकटों के समक्ष डट कर खड़ा है। इस संदर्भ में हिंदी कविता को अगर देखा जाए तो वह इन बड़े-बड़े लोभों, संकटों और डर के सामने जबरदस्त प्रतिकार का स्वर लेकर खड़ी है।

इसमें कोई शक नहीं कि मदन कश्यप की कविताएं इस समय और समाज की इस अंधेरगर्दी के समक्ष एक जबरदस्त नकार का स्वर लेकर उपस्थित होती हैं। मदन कश्यप हिंदी कविता की वह विश्वसनीय आवाज हैं जिनकी निगाह भूमंडलीकरण, बाजारवाद, पश्चिमवाद और इस घनघोर सांप्रदायिकतावाद पर है और बहुत ही पैनी है। मतलब मदन कश्यप की कविताओं को पढ़ कर हिंदी कविता के मिजाज को समझा जा सकता है और भविष्य के लिए आश्वस्त भी हुआ जा सकता है। एक तरह से यह हिंदी कविता के प्रतिनिधि स्वर को बयां करने की कोशिश है।

'अपना ही देश' मदन कश्यप की कविताओं का पांचवा संग्रह है। पिछले वर्ष उनका एक कविता संग्रह 'दूर तक चुप्पी' प्रकाशित होकर आया था लेकिन वह संग्रह उनकी सिर्फ छोटी कविताओं का संकलन था। इस तरह देखा जाए तो 2006 में प्रकाशित उनके संग्रह 'कुरूज' के बाद विधिवत क्रम में यह संग्रह है। इस संग्रह में 2006 के बाद की लगभग सारी कविताओं को समेटा गया है, सिर्फ उन कविताओं को छोड़ कर जो आकार में बहुत छोटी थीं और जिन्हें 'दूर तक चुप्पी' में जगह मिल गयी थीं। इस तरह इन दो वर्षों में आए दो संग्रहों को अगर मिला दें तब मदन कश्यप की इधर की सारी कविताएं इनमें समाहित हो जाती हैं।

मदन कश्यप की कविताओं को मोटा-मोटी दो खांचों में रख कर देखा जा सकता है। एक तो वे जो राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं पर सीधे-सीधे तीखे प्रहार की कविताएं हैं, और दूसरी वे जिनमें इन अपसंस्कृतियों के कारण जीवन में जो गिरावट आयी है और हम संवेदनात्मक स्तर पर जिस तरह रिक्त हुए हैं आदि की पड़ताल की गई है। राजनीतिक और सामाजिक स्तर पर यह गिरावट आई है इसीलिए तो यह जीवन की रिक्तता है। यहां उन छोटी-छोटी अनुभूतियों, संवेदनाओं को जगह मिली है जो हमारी रोजमर्रा की जिंदगी में बहुत कम होती जा रही हैं। क्रम में रखा जाए तो ये दोनों खांचे एक दूसरे से जुड़े हुए हैं।

मदन कश्यप की कविताओं में बौद्धिकता और सजगता का बहुत महत्व है, या यूं कहें कि उनकी कविताएं बौद्धिक विवेक और सामाजिक चिंता से निकली हुई कविताएं हैं। मदन कश्यप के पूरे कवि व्यक्तित्व का विकास राजनीतिक और सामाजिक चिंता के शउर के साथ ही हुआ है। इसलिए एकदम शुरुआत से ही वे सत्ता के उस कठोर और निरंकुश चेहरे के सख्त खिलाफ रहते आए हैं जो आम आदमी के लिए वज्रपात की तरह है। दरअसल मदन कश्यप लोकतंत्र के सही मायने तलाशने वाले कवि हैं। अगर लोकतंत्र है तो इसमें लोक की जगह कहां है- यह सवाल मदन कश्यप को इतना बेचैन करता है कि वे कई बार अपनी कविताओं में 'एक्टिविस्ट' की हद तक चले जाते हैं। उनके इस नये संग्रह को भी उसी क्रम में देखा जाना चाहिए। इस संग्रह का शीर्षक 'अपना ही देश' पर ही सबसे पहले विचार कर लिया जाए। जैसा कि हम सब समझ सकते हैं यह एक व्यंग्यात्मक शीर्षक है।

राजनीतिक और सामाजिक विद्रूपताओं पर लिखते हुए कई बार लेखन व्यंग्यात्मक हो जाता है। कबीर से लेकर भारतेन्दु और निराला, मुक्तिबोध और रघुवीर सहाय के लेखन में हम इस व्यंग्य को बहुत ही शिद्दत से महसूस कर सकते हैं। यह शीर्षक 'अपना ही देश' भी उसी व्यंग्यात्मक अर्थ में है। यह देश तो अपना है परन्तु वास्तव में यह देश है किसका?

इस लोकतंत्र में जो लोक है वास्तव में यह देश उसका है लेकिन यह देश चंद लोगों के हाथ में है। संग्रह में एक कविता आदिवासी समाज को हाशिए की आवाज के रूप में प्रस्तुत कर लिखा गया है। आज सबसे ज्यादा आदिवासियों के जीवन को ही तहस नहस करने की कोशिशें हो रही हैं। कविता की कुछ पंक्तियां -

'हमें शांत छोड़ दीजिए अपने जंगल में
हम हरियाली चाहते हैं
आग की लपटें नहीं
हम बादल की आवाज सुनना चाहते हैं
गोलियों की तड़तड़ाहट नहीं।'

हम सब जानते हैं कि आज हाशिए पर के लोगों की आवाज को खत्म करने की पूरी साजिश रची जा रही है और यह साजिश ग्लोबल है। इस 'अपने देश' में यह साजिश नव्य साम्राज्य का नया पाठ लिख रही है। सवाल जितना आदिवासी समाज का है उतना ही अपनी संस्कृति, परंपरा और सबसे ज्यादा अपने वजूद और अपनी अस्मिता को इस लोकतंत्र में बचाने का है।

संग्रह में भूमंडलीकरण के बाद वैचारिक स्तर पर जो शून्यता आ रही है उस पर करारा प्रहार किया गया है। बाजार और यह चमत्कृत कर देने वाली दुनिया मनुष्य के जीवन में ऐसा भ्रम पैदा कर रही है जो उन्हें वैचारिकी और प्रतिबद्धता से बहुत दूर लिए चले जा रही है। मदन कश्यप लिखते हैं-

'अब हमारी आकांक्षा
हमारे संघर्ष
हमारी करुणा पर
कालिख नहीं
रंगबिरंगे रंग पोते जाते हैं।'

मदन कश्यप की कविताओं को मोटा-मोटी दो खांचों में रख कर देखा जा सकता है। एक तो वे जो राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं पर सीधे-सीधे तीखे प्रहार की कविताएं हैं, और दूसरी वे जिनमें इन अपसंस्कृतियों के कारण जीवन में जो गिरावट आयी है और हम संवेदनात्मक स्तर पर जिस तरह रिक्त हुए हैं आदि की पड़ताल की गई है। राजनीतिक और सामाजिक स्तर पर यह गिरावट आई है इसीलिए तो यह जीवन की रिक्तता है।

जब हम भारतेन्दु को पढ़ते हैं तो देखते हैं कि उनके यहां पढ़े-लिखे समाज का वह तबका था जो वैचारिक रूप से खोखला हो चुका था। भारतेन्दु ने अपने लेखन में इस वर्ग पर तीखा प्रहार किया था और अपने यहां इसे केंद्र में रखा था। इस नव्य साम्राज्यवादी समय में हालात वैसे ही हैं इसलिए कवि को आज भी लिखना पड़ रहा है-

'यह समय ऐसा है
जिसमें कोई बहस नहीं
केवल गिरोहबंदियां हैं
मतभेदों के लिए कोई जगह नहीं।'

आखिर यह लोकतंत्र का कौन सा चेहरा है जहां मतभेद की जगह नहीं है।

संग्रह में 'रंग' कविता उस रंगीन दुनिया की ओर इशारा करती है जो मनुष्य के जीवन से ज्यादा उसकी सोच पर कुंडली मार कर बैठ गयी है। यह कविता उस ओर इशारा करती है कि किसी कौम को मारना हो तो पहले उसकी सोच को मार दो। यह रंगीन दुनिया हमारी स्मृतियों और हमारी सोच को खत्म करने की जबरदस्त कोशिश है और जिसमें वो सफल भी हो रही है। आगे मदन कश्यप लिखते हैं-

'हमारे समय में शब्दों ने
कुछ इस तरह बदले हैं रंग
कि खुशी का अर्थ है
दुख का रंगीन हो जाना।'

दु:ख का रंगीन हो जाना एक करारा व्यंग्य है। यह कवि के भीतर से निकला ऐसा वाक्य है जो निस्संदेह काफी बेचैनी और छटपटाहट के बाद निकलता है।

संग्रह में निठारी कांड पर दो-तीन कविताएं हैं। निठारी कांड वाकई एक सबसे घिनौनी और वीभत्स घटना थी। 'निठारी की बच्ची' बहुत ही उद्वेलित कर देने वाली और रोंगटे खड़े कर देने वाली कविता है। यह कविता संभवत: इस कांड के तुरंत बाद लिखी गई होगी, ऐसा सिर्फ इस कविता को पढ़ कर समझा जा सकता है। इस कविता में जिस बेचैनी और दु:ख को तिरोहित करने की कोशिश की गई है वह बेहद मार्मिक है। कविता एक बिंब रचती है। सपने में एक बच्ची अपने पिता की तरफ इस गुहार के साथ बढ़ती है कि वह उसे बचा ले परन्तु बेबस पिता उसे बचा नहीं पाता है। फिर कविता के माध्यम से यह सवाल अपने आप ही छूटता चला जाता है कि आखिर इस समाज में पिता को बेबस कौन बना रहा है।

आखिर वह कौन सा तिलिस्म है जो

चंद लोगों के हाथों में सारी ताकतें दे रहा है और आम इंसान कमजोर होता जा रहा है कि वह फूल की पंखुड़ियां तक नहीं बचा पा रहा है। कविता में पिता की तरफ से निकलते हैं ये दर्दनाक वाक्य और ये सवाल –

'बच्चियों के शरीर से खून टपक रहा था
और आंखों से दहशत
चीखें बर्फ की तरह जम गयी थीं
उनके चेहरों पर
क्या इसी परिणति के लिए
पैदा हुई थीं ये लड़कियां
इस सुंदर धरती पर।'

यह सवाल इस काठ होते जा रहे समाज के समक्ष एक शर्मनाक सवाल बन कर टंग जाता है। इसी कविता में मदन उन कारणों की तह में भी जाते हैं जहां से यह घिनौना यथार्थ तैयार हो रहा है–

'दूर खड़े तालियां बजा रहे थे
भू संपदा की उछाल से
रातोंरात खरबपति बन चुके धनपशु
उन्हें भा रहा था यह रियलटी शो।'

हाशिए पर पड़ा हुआ यह पूरा समाज एक रियलिटी शो ही तो बनता जा रहा है जो सिर्फ सत्ता के इशारे पर चलने के लिए मजबूर हैं।

मदन कश्यप अपनी कविताओं में इस धरती की कोमल चीजों को बचाने की पूरी कोशिश करते हैं। वे कोमल अनुभूतियां जब बचेंगी तभी यह धरती सांस लेने लायक भी रह पाएगी। लेकिन समाज का अपसंस्कृतिकरण, आवारा पूंजी का सैलाब और चकाचौंध कर देने वाले तंत्र में मानवता कहां बचने वाली। 'बड़ी होती बेटी' इसी तरह की कविता है। इस कविता में इस दुनिया में बेटी का बड़ी होते जाना एक घोर चिंता का विषय है। अब यह समाज एक हिंसक समाज है। कविता में मदन कश्यप लिखते हैं–

'बड़ी हो रही बेटी
बड़े हो रहे हैं भेड़िये
बड़े हो रहे हैं सियार
मां की करुणा के भीतर
फूट रही है बेचनी
पिता की चट्टानी छाती में
दिखने लगे हैं दरकने के निशान
बड़ी हो रही है बेटी।'

मदन कश्यप अपनी कविताओं में बार-बार लोकतंत्र के समक्ष सवाल रखते हैं। वे ऐसे कवियों में से हैं जो अपनी कविता में खुल कर अपनी वैचारिक प्रतिबद्धतता स्पष्ट करते हैं। वे राजनीति पर खुल कर कविता लिखते हैं और अपने यहां किसी भी पार्टी को नहीं बख्शते हैं। 'धर्मनिरपेक्ष हत्यारा', 'लोकतंत्र का राजकुमार' आदि कविताएं हैं जो सीधे-सीधे पढ़ते ही हमें निशाने पर कौन है यह समझ में आ जाता है।

इस कविता को 'निठारी की बच्ची' कविता के साथ मिला कर पढ़ा जाना चाहिए। कैसे इस समाज में एक बच्ची से लेकर उसके बड़े होने तक असुरक्षा है। दोनों कविताओं में पिता बेबस और लाचार हैं। एक बेबस पिता की बेबसी देखिए –

'मकई के दानों को बचाता है छिलकोइया
चावल को कन और भूसी
ढोलने को बचाता है रेशम का तागा
तुझे कौन बचाएगा मेरी बेटी।'

यानी कि मदन कश्यप अपनी कविताओं में बार-बार लोकतंत्र के समक्ष सवाल रखते हैं। वे ऐसे कवियों में से हैं जो अपनी कविता में खुल कर अपनी वैचारिक प्रतिबद्धतता स्पष्ट करते हैं। वे राजनीति पर खुल कर कविता लिखते हैं और अपने यहां किसी भी राजनीतिक पार्टी को नहीं बख्शते हैं। इस संदर्भ में 'धर्मनिरपेक्ष हत्यारा', 'लोकतंत्र का राजकुमार' आदि कविताएं उल्लेखनीय हैं।

संग्रह में एक बेहतरीन कविता है 'तानाशाह और जूते'। यूं तो यह कविता एक अमेरिकी राष्ट्रपति पर जूता चलने से संदर्भ लेती है लेकिन वास्तव में यह एक सोच पर अप्रासंगिक होने की ओर इशारा करती है। एक व्यक्ति अगर चाह ले तो किस तरह जीता जा सकता है, इस एक सोच से कविता इस ओर इशारा करती है–

'नवों दिशाओं में तनी रह गयीं
मिसाइलें
अपनी आखिरी गणना में गड़बड़ा गया
मंगल ग्रह पर जीवन के आंकड़े ढूंढ़ने
वाला कंप्यूटर
सेनाएं देखती रह गयीं
कमांडो लपक कर रोक भी न पाए
और उछल पड़े जूते।'

मदन कश्यप अपनी कविताओं में जितने वैश्विक हैं उतने ही स्थानीय भी हैं। उनकी कविताओं में वह बोली-भाषा शब्द और परिवेश सब उनकी स्थानीयता को द्योतित करते हैं।

मदन कश्यप का यह पांचवा संग्रह है। इस काव्य यात्रा में उन्होंने अपने अंदर अपनी धार, अपनी सजगता और बेचैनी को बचाए रखा है। यही कारण है कि उनका यह संग्रह एकदम ताजगी लिए हुए है और बेचैन कर देने की हद तक बौद्धिकता से परिपूर्ण है। आज के कठिन समय में यह संग्रह प्रतिपक्ष की एक दमदार आवाज भी है। ■

PUSTAK VARTA JAN-FEB-2015 FINAL_JULY-AUGUST 2014.qxd 21-06-2015 18:35 Page 40

समीक्षा

जीवन की खुरदरी एवं कटु सच्चाइयों से साक्षात्कार

■ **सुमित सौरभ**
आलोचक

संपर्क : वीमेन स्टडीज रिसर्च सेंटर, कुरुक्षेत्र यूनिवर्सिटी, कुरुक्षेत्र

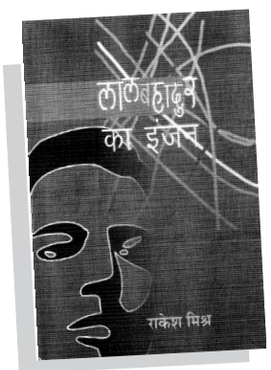

पुस्तक : लाल बहादुर का इंजन
लेखक : राकेश मिश्र
प्रकाशक : आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा
प्रकाशन वर्ष : 2014
मूल्य : ₹ 200

कहानीकार अपने समय के साथ होता है, इसलिए उसका समय भी उसकी कहानियों में दिखाई देता है। समय के प्रति सजगता और विद्रूप व्यवस्था को उद्घाटित करने की उद्दाम इच्छा ही उसे एक सचेत कहानीकार बनाता है। यह सचेतनता राकेश मिश्र के कहानी संग्रह 'लाल बहादुर का इंजन' में भी है। संग्रह में शामिल सात छोटी-बड़ी कहानियां, बदलते समय के साथ बदलते जीवन मूल्यों को तथा जीवन के अलग-अलग रंगों को, विभिन्न दृश्य-बिम्बों के माध्यम से न केवल चित्रित करती हैं, बल्कि वे परतें भी हटाती हैं, जिसके भीतर कई सत्य दबे पड़े हैं।

संग्रह की अधिकांश कहानियों की विशेषता यह है कि लेखक बाहरी यथार्थ को देखने-परखने की जगह, समकालीन समय के बहुरेखीय, संश्लिष्ट और बहुस्तरीय यथार्थ को उजागर करता है। अपने आस-पास की स्थितियों-संदर्भों के बीच से जो भी चरित्र चुनता है, उसके अंत:स्थल में झांक उनके द्वंद्वों, तनावों और पीड़ा को महसूस कर कहानी में इस तरह व्यक्त करता है कि पात्र की निजी पीड़ा पाठक की संवेदना से जुड़ कर वृहत्तर आयामों में आमजन के जिये-भोगे से एकाकार हो जाती है। लेखक यह सब बिना किसी बौद्धिक कसरत व शैल्पिक आग्रह के बड़ी सहजता से करता है।

इस संग्रह में शामिल कहानियों की एक बात जो विशेष तौर पर आकर्षित करती है, वह है कहानियों की भाषा। अक्सर भाषा और शिल्प की कलात्मकता कथ्य को कुंठित कर देती हैं। दूसरी ओर इसका अभाव रचना को एकरस कर देता है। लेखक भाषा और शिल्प का ऐसा संतुलन बनाता है कि भाषा कथ्य को ताकतवर बनाती है और कथ्य भाषा को कलात्मक। भाषा और कथ्य का यह अद्भुत संतुलन, संकलन की चार कहानियां, '...बुरा है शैतान', 'लाल बहादुर का इंजन', 'परिवार (राज्य) और निजी संपत्ति' तथा 'शोक' शीर्षक कहानियों में पूरे शबाब पर दिखता है।

संग्रह की सबसे पहली कहानी 'शोक' मानवीय संबंधों की रागात्मकता और निस्संगता का आख्यान है। लेखक ने अत्यंत सादगी से कहानी का ताना-बना बुना है। कथानायक अपने बचपन के मित्र की बेटी की मृत्यु के मातमपुर्सी हेतु अपने शहर भुसावल के कंडारी मोहल्ला पहुंचता है, जहां उसे बिलकुल नया अनुभव प्राप्त होता है। 'जब संजय भाऊ के घर पहुंचा तो वहां मरने जैसा कोई सीन दिखाई नहीं दे रहा था।' जिंदगी बिल्कुल अपने सामान्य ढर्रे पर थी। कुछ इस तरह कि कथानायक जिसकी मृत्यु के मातमपुर्सी हेतु आया था, उसके संबंध में कुछ बोलने-पूछने में भी वह खुद को असहज महसूस करता है। बहुत कोशिश करके वह एक अधूरा वाक्य बोल पाता है 'भाऊ वो छुकली... ?' जिसकी प्रतिक्रिया में आशा के विपरीत एक अत्यंत ठंडा जवाब मिलता है 'हां, हां... आज उसी का चौथा है ...अभी विहार में चलते हैं... बस प्रोग्राम वहीं खल्लास।' मृत्यु के प्रति इतनी निस्संगता!

कहानी कथानायक के अतीत और वर्तमान के बीच की आवाजाही में पूरी होती है। जहां स्मृति के रूप में एक तरफ स्लम बस्ती की जिंदगी का भीषण संघर्ष है, फांके-मस्ती का शुरूर है, एंग्लो-इंडियन लड़कियां हैं, जो हवा के ताजे झोंके की तरह आती हैं, स्मृति को स्पर्श करती हैं और धीरे से आगे निकल जाती हैं। दूसरी तरफ वर्तमान यथार्थ का भयावह रूप है। स्लम बस्ती में व्याप्त बेरोजगारी, दो-चार पैग शराब की मौज-मस्ती के लिए गुमराह युवक, हर पल मौत के ज्ञात-अज्ञात भय में जीते शंकर बॉक्सर और कभी संपन्नता, स्निग्धता और भरे-पूरे परिवार की खुशहाली में डूबे ऑटो अंकल

का अकेलापन। जिनके पास अब सिर्फ एक आर्त्तनाद बचा था 'खत्म... सब खत्म।' इस कहानी को पढ़ते हुए थोड़ा चौकन्ना हो जाना पड़ता है। प्रकट में यह नितांत सीधी-सपाट सी महसूस होती है लेकिन कहानी के भीतरी यथार्थ में उतरते ही, मानवीय रिश्तों की गर्माहट और ठंडेपन का चित्रण हमें विचलित कर देती है।

संग्रह की दूसरी कहानी 'परिवार (राज्य) और निजी संपत्ति' का फलक अत्यंत विस्तृत है। इसे एक निश्चित परिधि में नहीं बांधा जा सकता है। यह निजी महत्वाकांक्षा के नितांत अलक्षित कोने से शुरू होकर 'कॉर्पोरेट भ्रष्टाचार' के उस सुदूर कोने तक जाती है, जहां से कई तरह के राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकृतियां पैदा होती हैं। कहानी में विभिन्न प्रसंगों के माध्यम से वामपंथी आंदोलन की आंतरिक विसंगतियों की भी खुल कर चर्चा की गई है। जिस संवेदनशीलता के साथ 'कॉर्पोरेट भ्रष्टाचार' तथा वामपंथी आंदोलन के कार्यशैली की समीक्षा की गई है, वह कहानी को अत्यंत मौजू बनाती है।

कहानी का नायक धीरज पांडेय, जो अंतत: प्रतिनायक के रूप में उभर कर सामने आता है, परिवार के आर्थिक संकट के समय आर्थिक मदद के लिए पिता का पत्र लेकर जब-तब विभिन्न 'कॉमरेड' के पास 'पार्टी ऑफिस' में जाता है, उसी पार्टी के ऑफिस में जिसके आंदोलन के दौरान, उसके पिता कंपनी की नौकरी से बर्खास्त हुए थे। उनसे कंपनी द्वारा प्राप्त सभी सुविधाएं वापस ले ली गई थीं और उनका परिवार गुरबत की जिंदगी जीने को मजबूर हो गया था। आर्थिक मदद के लिए विभिन्न 'कॉमरेड' के पास 'पार्टी ऑफिस' जाने के दौरान नायक-प्रतिनायक तरह-तरह के जिल्लत उठाता है। ऐसे ही एक लोमहर्षक घटना के बाद नायक में प्रतिनायकत्व की प्रक्रिया शुरू होती है। ऊंचा उठने की चाह जगती है। जिसके लिए वह अपने तर्क और तरकीब विकसित करता है। जिसमें सबसे मजबूत तर्क है- 'यह कतई जरूरी नहीं कि आदमी अपने कद या कर्मों से ही ऊंचा उठे, यह ऊंचाई किसी की पीठ या गर्दन पर चढ़ कर भी पाई जा सकती है, शर्त केवल इतना है कि यह भी नजर मत आने दो कि तुम किसकी गर्दन या पीठ पर सवार हो।' ऊंचा उठने की प्रक्रिया में नायक-प्रतिनायक उन तमाम हथकंडों को अपनाता है, जो इस प्रक्रिया में मददगार हो सकती है। वह रुपए लेकर लोगों को पुरस्कृत-सम्मानित करवाने का धंधा करता है। विभिन्न परिसंवादों की आड़ में बड़े अधिकारियों, सेठ-साहूकारों, ठेकेदारों के बीच मीटिंग फिक्स करवाता है, जहां तमाम जायज-नाजायज सौदे तय होते हैं। ऊंचा उठने की इसी प्रक्रिया के दौरान वह विधानसभा चुनाव लड़ रहे इस्पात कंपनी के पूर्व अधिकारी, जिसे कंपनी किसी भी कीमत पर हराना चाहती थी, को हराने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है और रातोंरात कंपनी की नजर में हीरो हो जाता है। इसके बाद परिवार में, समाज में उसकी इज्जत तेजी से बढ़ने लगती है। अब तक जो माता-पिता अपने बच्चों को उससे दूर रखने की कोशिश करते थे, अपने बच्चों को 'पांडे' जैसा बन जाने की इच्छा पालने लगते हैं। नायक की ऊंचा उठने की चाह इतनी बलवती होती है कि उसे अपने तमाम पुराने धंधे छोटे लगने लगते हैं। जिन्हें वह अपने छोटे भाई को सुपुर्द कर खुद रियल स्टेट, स्मॉल स्केल इंडस्ट्री की तरफ शिफ्ट होने लगता है और इस दौरान कंपनी, पुलिस-प्रशासन सबका सहयोग प्राप्त करता है। बाहरी दुनिया में नायक-प्रतिनायक जितना ऊंचा उठता जाता है, भीतरी दुनिया में उतना ही अशांत होता जाता है और ऊंचा उठने की इस प्रक्रिया के दौरान ही बहन के प्रेमी द्वारा मारा जाता है।

अधिकांश कहानियों में लेखक बाहरी यथार्थ को देखने-परखने की जगह, समकालीन समय के बहुरेखीय, संश्लिष्ट और बहुस्तरीय यथार्थ को उजागर करता है। अपने आस-पास की स्थितियों-संदर्भों के बीच से जो भी चरित्र चुनता है, उसके अंत:स्थल में झांक उनके द्वंद्वों, तनावों और पीड़ा को महसूस कर कहानी में इस तरह व्यक्त करता है कि पात्र की निजी पीड़ा पाठक की संवेदना से जुड़ कर वृहत्तर आयामों में आमजन के जिये-भोगे से एकाकार हो जाती है ।

लेखक ने विभिन्न प्रसंगों, घटनाओं के माध्यम से इस्पात कंपनी की कार्यशैली, मजदूर आंदोलन की अवसरवादिता तथा कामगारों की मन:स्थितियों की जो तस्वीर पेश की है, वह एक विशेष कालखंड के जीवंत इतिहास के रूप में सामने आता है। कहानी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि लेखक ने नायक-प्रतिनायक के लगातार ऊंचा उठते जाने के बावजूद, उसके अनैतिक कार्यों से लगातार अपनी असहमति जतायी है, जो लेखक के सरोकारों को भी रेखांकित करती है।

संग्रह की शीर्षक कहानी 'लाल बहादुर का इंजन' भी वामपंथी संगठन और एक समर्पित कार्यकर्ता के अंत:संबंधों पर

केंद्रित है। यह एक छोटे शहर 'बलिया' से 'बनारस हिंदू विश्वविद्यालय' जैसे बड़े विश्वविद्यालय की छात्र राजनीति में शामिल हुए एक ऐसे भोले युवक की कहानी है, जो अपने कच्चे विचार, महान स्वप्न तथा दुनिया बदलने की यूटोपिया के साथ प्रगतिशील विचारों का वाहक वामपंथी छात्र संगठन में शामिल होता है। वहां वह घाघ छात्र नेताओं द्वारा छला जाता है और अंततः अपने महान स्वप्न को टूटता देख, नशे के अंधे कुएं में डूब जाता है। अन्ततः वह समाज द्वारा पागल करार दिया जाता है। 'वो पागल जो अभी-अभी गया है?... कहां रहता है नहीं मालूम।' यह कहानी अत्यंत प्रभावशाली तरीके से संगठन तथा कार्यकर्त्ता के बीच के संबंधों पर सवाल उठाती है। एक समर्पित कार्यकर्त्ता के प्रसंग में संगठन की भूमिका का सवाल भी इसमें शामिल है।

संग्रह में शामिल कहानियों की मुख्य विशेषता यह है कि यह किसी विमर्श से प्रेरित होकर नहीं लिखी गई हैं। कहानी के बीच से विमर्श को आकार देने की कोशिश की गई है। यही कारण है कि इन कहानियों में किसी तरह की बयानबाजी नहीं है। लेखक रोजमर्रा की जीवन स्थितियों को समकालीन समय के विराट संदर्भों के साथ जोड़ कर देखता है। इसी क्रम में संग्रह में शामिल कहानी 'आंबेडकर हॉस्टल' को देखा जा सकता है। दलित आक्रोश की स्पष्ट झलक दिखने के बावजूद यह कहानी दलित विमर्श के प्रचलित अर्थों में दलित विमर्श की कहानी नहीं है।

पूरी कहानी जातिगत चेतना, जातिगत संस्कार तथा जाति व्यवस्था के त्रिस्तरीय स्वरूप को विभिन्न पात्रों तथा घटनाओं के माध्यम से व्यक्त करती है। कहानी की संरचना में लेखक जिन सोपानों से होकर गुजरता है, उसमें जरा सा भी स्खलन इस कहानी को दलित विमर्श की एक सतही, फार्मूलाबद्ध कहानी में बदल सकता था, पर लेखक ने कुशलता से संतुलन साधते हुए इसे एक उत्कृष्ट कहानी के मुकाम तक पहुंचाया है।

संग्रह में शामिल कहानियों की मुख्य विशेषता यह है कि यह किसी विमर्श से प्रेरित होकर नहीं लिखी गई हैं। कहानी के बीच से विमर्श को आकार देने की कोशिश की गई है। यही कारण है कि इन कहानियों में किसी तरह की बयानबाजी नहीं है। लेखक रोजमर्रा की जीवन स्थितियों को समकालीन समय के विराट संदर्भों के साथ जोड़ कर देखता है। इसी क्रम में संग्रह में शामिल कहानी 'आंबेडकर हॉस्टल' को देखा जा सकता है।

संग्रह की तीन कहानियां, 'स्थगन के शिल्प में', 'लाल बहादुर का इंजन' तथा '...बुरा है शैतान' विश्वविद्यालय की पृष्ठभूमि में लिखी गई हैं। दरअसल रचनाकार की मनोदशा और परिस्थितियों का असर निश्चित तौर पर सर्जना पर पड़ता है। ऐसे में लेखक भी इससे अछूता नहीं है। पेशे से अध्यापक तथा जीवन का एक लंबा दौर विश्वविद्यालय में गुजार चुका लेखक कैंपस के यथार्थ की विभिन्न परतों को बखूबी उभारता है और ऐसा करते हुए उसे वह बाहरी दुनिया के यथार्थ के साथ जोड़ कर भी देखता है। '...बुरा है शैतान' एक खूबसूरत प्रेम कहानी है, जो बदलते आर्थिक-सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य में प्रेम को उस नजरिये से नहीं देखता है, जैसा आमतौर पर प्रचलन में है।

आकार में बड़ी यह प्रेम कहानी विभिन्न स्थितियों, परिस्थितियों के माध्यम से प्रेम की प्रकृति पर नए नजरिए से सोचने को बाध्य करती है। कहानी का विस्तार सुकूनदेह है। कहीं अनावश्यक विस्तार नहीं है। अच्छी बात यह है कि लेखक प्रेम को विश्लेषित करते हुए न खुद रस लेता है, और न पाठक को इसके लिए आमंत्रित करता है।

उपरोक्त कहानियों से इतर 'लगभग हमउम्र' तथा 'स्थगन के शिल्प में' कहानियां हड़बड़ी में लिखी गईं, बहुत छोटे फलक की कहानियां हैं। इन कहानियों को इस तरह की गंभीर कहानियों के संकलन में शामिल किया जाना अखरता है। 'लगभग हमउम्र' कहानी में कथानायक, मुहल्ले में रहने वाली लड़की और उसके घर-परिवार का वर्णन करता है। लेकिन इस वर्णन के अतिरिक्त कहानी में कोई और तत्व नहीं है। कहानी सायास निष्कर्ष पर पहुंच कर समाप्त की गई प्रतीत होती है।

इसी तरह 'स्थगन के शिल्प में' कहानीपन के न होने से यह आत्मालाप सी प्रतीत होती है। इसे तकनीक और शिल्प के स्तर पर थोड़ा और मांजा जाता तो यह अद्‌भुत कहानी होती। ये दोनों कहानियां कमजोर कहानियां हैं। संग्रह की एक बड़ी कमी है प्रूफ की अत्यधिक गलतियां जो पढ़ने के स्वाद को खराब करती हैं। बावजूद इसके विभिन्न कहानियां जीवन की खुरदरी एवं कटु सच्चाइयों के माध्यम से बार-बार झकझोरती हैं। ■

PUSTAK VARTA JAN-FEB-2015 FINAL_JULY-AUGUST 2014.qxd 21-06-2015 18:35 Page 43

समीक्षा

विधा की सीमाएं तोड़ती एक डायरी

■ **कृष्ण प्रताप सिंह**
वरिष्ठ पत्रकार

संपर्क : 5/18/35, बछड़ा सुल्तानपुर, फैजाबाद-224001

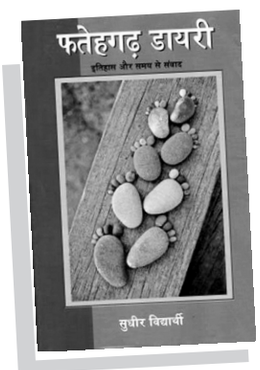

पुस्तक : फतेहगढ़ डायरी
लेखक : सुधीर विद्यार्थी
प्रकाशक : लोक प्रकाशन गृह, सादतपुर, दिल्ली-110094
प्रकाशन वर्ष : 2015
मूल्य : ₹ 300

सुधीर विद्यार्थी को आमतौर पर भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन के जनपक्षधर अध्ययन व विश्लेषण के लिए जाना जाता है। यों उन्हें अपने रहने-सहने की जगहों से बतियाने का भी शगल है, जो उन्हें इन जगहों के लोक, संस्कृति व संघर्षों को बहुत निकट से समझने-बूझने को बेचैन किये रहता है। पिछले वर्षों में इस बेचैनी को अपनी चेतना व सृजन का हिस्सा बनाकर उन्होंने एक के बाद एक तीन कृतियां दी हैं-'पहचान बीसलपुर', 'मेरे हिस्से का शहर' और 'शहर के भीतर शहर'। आलोचकों की मानें तो ये तीनों इस अर्थ में बहुत महत्वपूर्ण हैं कि हिंदी में जनपदीय इतिहास व संस्कृति पर केंद्रित सरोकारी लेखन की कमी पूरी करने में काफी मददगार हैं। इनमें अपनी जनता के इतिहास, संस्कृति व संघर्षों के विलक्षण प्रसंगों का जीवंतता के साथ चित्रण किया गया है, साथ ही साधारण लोगों की असाधारणता का अपनी तरह का अनूठा उत्खनन भी।

हाल ही में प्रकाशित उनकी 'फतेहगढ़ डायरी' जिसे वे 'समय और इतिहास से संवाद' की संज्ञा देते हैं, इसी शृंखला में एक नई कड़ी है। फतेहगढ़ फिलहाल उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद जिले का मुख्यालय है। वहां स्थित सेना की एक बड़ी छावनी के संदर्भ से उसे देश भर में जाना जाता है। वहां की ऐतिहासिक सेंट्रल जेल अंग्रेजों के समय में स्वतंत्रता के सेनानियों व सैनिकों के लिए 'दमन की चक्की' बनी रही थी। आजादी के बाद भी दमनकारी सत्ता व व्यवस्था के खिलाफ खड़े होने वालों को पीस कर रख देने वाला उसका चरित्र बदला नहीं है।

यह वह जेल है जिसमें कभी यशस्वी क्रांतिकारी लेखक यशपाल ने अपनी 'पिंजरे की उड़ान' की कहानियां लिखी थीं। डायरी में सुधीर का मानना है कि यशपाल क्रांतिकारिता की कसौटी पर पूरी तरह खरे साबित नहीं होते। फिर भी वे उन्हें चन्द्रशेखर आजाद के भारतीय क्रांतिकारी दल के इतिहास के पृष्ठों से 'निष्कासित' करने के पक्षधर नहीं हैं। इसी जेल ने सुधीर को हिटलर के प्रशंसक परिव्राजक जी और 'अछूत खीर' का रोचक किस्सा भी दिया है।

सुधीर के मुताबिक फतेहगढ़ उनके शहर शाहजहांपुर के बहुत निकट है। फिर भी उनका कभी उससे बहुत सघन रिश्ता नहीं रहा। होता भी नहीं, अगर वे न्याय विभाग की नौकरी में नहीं होते और उसका उनसे चिढ़ा हुआ निजाम उनके उत्पीड़न पर नहीं उतरता। इस निजाम ने 1993 में उनको जबरन वहां स्थानांतरित कर दिया और कई विपदाओं के बीच 'छूट भागने' की उनकी तमाम कोशिशों के बावजूद 1996 तक उसी जेल में 'बंद' रखा था।

इन तीन सालों में सुधीर ने जाने-अनजाने इस शहर से गाढ़ी आत्मीयता हासिल कर ली। ऐसी कि डायरी के कोई दो सौ मुद्रित पृष्ठ लिखने के बावजूद उन्हें लगता है कि 'बहुत कुछ दर्ज होने से बचा रह गया'। खुद पर पड़ी उसकी छाप के सिलसिले में सफाई भी देनी पड़ती है कि 'जो इसमें, यानी डायरी में है, वह सिर्फ इस भूखंड का नहीं, मेरी चेतना का भी हिस्सा है।...मेरी प्रतिबद्धताएं यहां बहुत मुखर होकर उपस्थित हैं। ...भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन के अनेक दुर्लभ साक्ष्य इसमें बखूबी दर्ज हुए हैं।'

यकीनन, वे ऐसा कहते हैं तो कोई बड़बोलापन नहीं दर्शा रहे होते। उनकी चेतना और प्रतिबद्धताएं इस डायरी से गुजरने के पहले पाठकों के मन-मस्तिष्क में अंकित फतेहगढ़ की पुरानी पहचान को नई कर डालती हैं। हम जानते हैं कि फतेहगढ़ या फर्रुखाबाद की पुरानी पहचान इतिहास प्रसिद्ध ठगों, स्वाद में निराले आलुओं और खुले फर्रुखाबादी खेलों से जुड़ी रही है। यह डायरी कभी उसे क्रांतिकारी मणीन्द्रनाथ बनर्जी की शहादत स्थली से प्रतिस्थापित करती है, तो कभी समाजवादी चिंतक

PUSTAK VARTA JAN-FEB-2015 FINAL_JULY-AUGUST 2014.qxd 21-06-2015 18:35 Page 44

अर्पिता सिंह की एक कलाकृति

डॉ. राममनोहर लोहिया की कर्मस्थली से। डायरी बताती है कि वह डॉ. लोहिया की ही नहीं, जीवन भर शहीद क्रांतिकारियों की स्मृतियों को संजोने में लगे रहे यशस्वी लेखक, पत्रकार व 'विशाल भारत' के संपादक बनारसीदास चतुर्वेदी की कर्मस्थली भी है। पीड़ा की छायावादी कवयित्री महादेवी वर्मा, उर्दू के महत्वपूर्ण शायर गुलाम रब्बानी ताबां, किसानों के महाकवि घाघ और शहीद पंडित रामस्वरूप शर्मा की जन्मस्थली भी।

बातों ही बातों में पाठकों को बता देती है कि वह छोटे से फतेहगढ़ शहर की नहीं विशाल फतेहगढ़ अंचल की डायरी है। वह अप्रतिम जीवट व शौर्य के धनी नवाब तफज्जुल हुसैन खां की स्थली भी है। ये वही तफज्जुल हुसैन हैं, जो 1857 में शुरू हुए देश के पहले स्वतंत्रता संग्राम की विफलता के दौर में भी, दिल्ली के पतन के दो साल बाद तक अंग्रेजों से लोहा लेते रहे। बाद में देशनिकाले की सजा के शिकार होकर वे बीवी-बच्चों के साथ मक्का के रेगिस्तानों में भटकने को मजबूर हुए।

सुधीर की चेतनाएं इतना ही नोट करके नहीं रह जातीं। पांचाल प्रदेश की राजधानी और जैन धर्मावलंबियों के प्रमुख तीर्थों में से एक कंपिल को प्रणाम करके वे और भी बहुत कुछ बताती हैं। मिसाल के तौर पर यहीं के विश्रांतघाट पर कभी शहीद-ए-आजम भगत सिंह व सुखदेव के अध्यापक जयचंद्र विद्यालंकार और क्रांतिकारी शचीन्द्रनाथ सान्याल की ऐतिहासिक भेंट हुई थी। इलाहाबाद के अल्फ्रेड पार्क में पुलिस से घिरे चंद्रशेखर आजाद पर गोली चलाने वाला दारोगा विश्वेश्वर सिंह यहीं का था और जवाबी गोली से आजाद ने उसका जबड़ा तोड़ दिया था।

1871 में कवि जगनिक के 'आल्हखंड' को संकलित व प्रकाशित कराने वाला अंग्रेज कलक्टर चार्ल्स इलियट इसी धरती में दफन है। बुद्ध के अवतरण से जुड़ा संकिसा या कि संकास्य भी यहीं है। संकास्य को लेकर हिंदुओं व बौद्धों के बीच प्राय: होते रहने वाले विवादों को देखकर सुधीर पूछते हैं कि क्या इतिहास व अंध आस्था का समन्वय किया जा सकता है? उनकी चेतनाएं दोहों के कवि राजाराम शुक्ल, 'राष्ट्रीय आत्मा' और 'काकली' के रचयिता कौशलेंद्र को याद करना नहीं भूलतीं। बदहाल बीड़ी मजदूरों की तकलीफें साझा करती हुई नौटंकी में इतिहास रच गयी 'नदी नारे न जायो श्याम' फेम 'बहादुर लड़की' गुलाब बाई के बलपुरवा की यात्रा भी करती हैं।

जब की यह डायरी है, उन दिनों कन्नौज भी फर्रुखाबाद जिले का ही हिस्सा था, इसलिए इसमें वहां के जगत प्रसिद्ध इत्र की खुशबू भी है। कन्नौज के अंतिम हिंदू शासक जयचंद से जुड़ा यह प्रश्न भी कि वह सचमुच 'गद्दार' था या इतिहास को उस पर लगायी गयी इस तोहमद के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता है? क्रांतिकारियों में योगेशचंद्र चटर्जी, मन्मथनाथ गुप्त, रमेशचंद्र गुप्त, अनंतराम श्रीवास्तव, मणीन्द्रनाथ बनर्जी, 'आदि हिंदू' आंदोलन के प्रवर्तक स्वामी अछूतानंद, नक्सलवादी आंदोलन के कामरेड शिवनाथ त्रिवेदी व रामचंद्र, उत्तर प्रदेश में कम्युनिस्ट आंदोलन के केंद्र रहे कामरेड जगदीश नारायण त्रिपाठी व कैसर खां की स्मृतियों की अनुगूंज से तो यह डायरी भरी ही हुई है। यहां के पहले सांसद थे मूलचंद दुबे, जिनके निधन के बाद हुए उपचुनाव में फर्रुखाबाद के मतदाताओं ने समाजवादी नेता डॉ. राममनोहर लोहिया को चुना था। उनकी खरीदी भूमि पर बने 'स्वराज कुटीर' की एक पत्रकार द्वारा लिखी दारुण 'आत्मकथा' भी इस डायरी में है।

डायरियां हिंदी के अन्य कवियों, कथाकारों, लेखकों, आलोचकों व मनीषियों ने भी लिखी हैं। उनमें से कई बहुत अच्छी लिखी गयी हैं। लेकिन सुधीर की 'फतेहगढ़ डायरी' जिस सृजनात्मकता के साथ इस विधा की सीमाओं को तोड़ती है, वह निश्चित ही दुर्लभ है। हर स्मृति प्रसंग के आरंभ में उद्धृत प्रासंगिक काव्य पंक्तियां न सिर्फ उसका आकर्षण बढ़ाती हैं बल्कि नयी अर्थवत्ता प्रदान करती हैं। ■

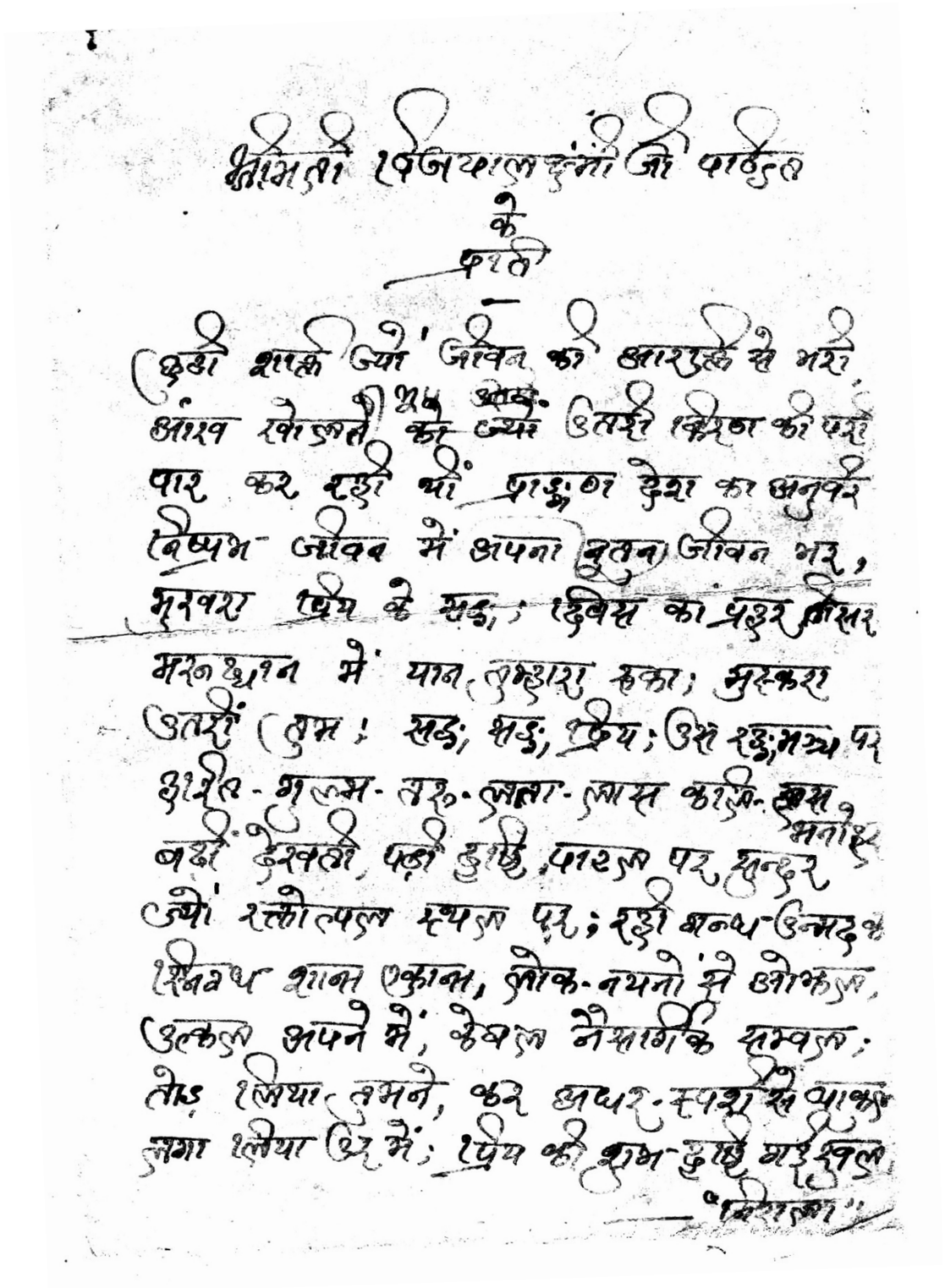

श्रीमती विजयालक्ष्मी पंडित जी पर
के
प्रति

(छोड़ी शक्ति ज्यों जीवन की आशुक्ति से भरे,
आशय खोलते का ज्यों उतरी क्षितिज की परी
पार कर रही थी प्राकृत देश का अनुवर्त
विश्वभ जीवन में अपना नूतन जीवन भर,
मृदुकर प्रिय के सद्य; दिवस का प्रहर तीसर
मरन्ध्रान में यान तुम्हारा रुका; मुस्करा
उतरीं तुम; सद्य; शुद्ध; प्रिय; उस रुद्ध मञ्च पर
आर्द्र-गलम-तरु-लता-लास काश्मि-क्षम,
बही देखती पड़ी हुई थी पारल पर सुन्दर
ज्यों रक्तोत्पल स्थल पर; रही अन्ध-उन्मद
निबन्ध ध्यान एकान, लोक-नयनों से ओझल,
उत्कल अपने में, केवल नैयार्गिक सम्बल;
तोड़ लिया तुमने, कर अधर-स्पर्श से पाकर
लगा लिया उर में; प्रिय की शुभ्र हुई मरु स्थल
"निराला"

पं. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला द्वारा सुश्री विजयालक्ष्मी पंडित को संबोधित यह कविता स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में संरक्षित है।

PUSTAK VARTA JAN-FEB-2015 FINAL_JULY-AUGUST 2014.qxd 21-06-2015 18:35 Page 46

समीक्षा

भारतीय मध्यवर्ग की आत्म-समीक्षा

■ **धनंजय दुबे**
प्राध्यापक एवं आलोचक

संपर्क: हिंदी विभाग,
मोतीलाल नेहरू कॉलेज,
बेनितो हुआरेज मार्ग,
नई दिल्ली-110021

पुस्तक: धूल पौधों पर (उपन्यास)
लेखक: गोविन्द मिश्र
प्रकाशक: वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली
प्रकाशन वर्ष: 2014
मूल्य: ₹ 325

गोविंद मिश्र हिंदी के वरिष्ठ लेखकों में से हैं. लगभग पांच दशकों से साहित्य की विविध विधाओं में वे लगातार लिखते रहे हैं। समकालीन कथा साहित्य में इनकी अलग पहचान है। 'धूल पौधों पर' इनका पुरस्कृत उपन्यास है। कथा तत्व, कौतुहल, औत्सुक्य इत्यादि की दृष्टि से यह उपन्यास बेजोड़ है। एक सौ छप्पन पृष्ठों में वर्णित उपन्यास एक बैठक में पढ़ जाने को प्रेरित करता है। कथा एक बार शुरू होने पर पाठक को भविष्यवक्ता की तरह आगे की कथा को अनुमानित करने का ज्यादा अवसर नहीं देती। कथा में नाटकीयता का पर्याप्त समायोजन है। लेकिन यह नाटकीयता ऊपर से ओढ़ी हुई नहीं लगती, बल्कि मूल कथा की दिशा को तय और अधिक दृढ़ करती है, साथ ही पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को उभारती है और उन्हें दृढ़ करती है। कथा तत्व के प्रभाव में इस नाटकीयता से न सिर्फ विकास होता है बल्कि कथा सरपट आगे निकल पड़ती है और पाठक भी उसके साथ बहने लगता है।

कथा वाचन की शैली में लिखे गए उपन्यास 'धूल पौधों पर' के केंद्र में है एक युवती। लेखक ने अज्ञात वजहों से सायास इसका नामकरण नहीं किया है और उसे संज्ञा की जगह सर्वनाम 'वह' से पूरे उपन्यास में संबोधित किया है। 'धूल पौधों पर' की कथाकी शुरुआत होती है उच्च पद पर आसीन, समादृत विद्वान, सुविख्यात लेखक और समाजशास्त्र से संबद्ध एक प्रतिष्ठित संस्था के निदेशक प्रौढ़ प्रेमप्रकाश की बैठक से। समाजशास्त्र में एम.फिल. कर रही कुछ छात्राएं अपने विभाग में व्याख्यान देने हेतु प्रेमप्रकाश को निमंत्रित करने हेतु उनकी बैठक में आती हैं। प्रेमप्रकाश को छोटे मोटे कार्यक्रमों में जाना अपनी ख्याति के अनुरूप नहीं लगता और व्यस्तता का बहाना बनाकर वे जाने से इनकार कर देते हैं। अपनी ख्याति और प्रतिष्ठा को महिमामंडित करने के लिए उन्हें यह कृत्य आवश्यक लगता है। अगले दिन एक अन्य छात्रा 'वह' इसी निवेदन के साथ पुन: उनके घर जा पहुंचती है. उसके तर्क-वितर्क, आत्मविश्वास, जिद और कुछ हद तक उसके प्रति एक आकर्षण के कारण प्रेमप्रकाश उसके प्रस्ताव पर अपनी स्वीकृति दे देते हैं। यहीं से शुरू होता है उस युवती से पहचान, नजदीकी और फिर मेल-मिलाप और प्रेम का सिलसिला, जिसकी कहानी निकलती है तो फिर दूर तलक जाती है।

'वह' बार-बार अलग अलग वजहों से प्रेमप्रकाश के घर आती है। प्रेमप्रकाश की वृद्धा मां और उनकी पत्नी से घुलमिल जाती है और यह सब प्रेमप्रकाश सहित पूरे परिवार को पसंद भी आता है- 'जब वह घर में होती, उस तमाम दरम्यान प्रेमप्रकाश का घर एक चहक से गूंजता होता, वह घर जिसमें तीन बुजुर्ग बन्दे सस्त-सुस्त रेंगते थे, जिस कारण एक तरह का धुंधलापन, बासीपन, उबास वहां बराबर रहते थे। वह आती तो जैसे सुबह को अपनी गठरी में लिए हुए, जिसे खोलकर वह उस घर में सुबह की गर्माहट बिखेर देती।' प्रेमप्रकाश के घर, उनके दिल में प्रकाश बिखेरने वाली 'वह' के परिवार में उसके एक छोटे बेटे सिद्धार्थ, ज्योतिष और पुरोहिती का ढोंग करने वाले पति (युवा गुरु) के अतिरिक्त वृद्ध सास-ससुर भी हैं, परन्तु वहां का वातावरण अत्यंत तनावपूर्ण, नीरस और उबाऊ किस्म का है। पढ़ने में अव्वल, कुशाग्रबुद्धि यह स्त्री अपने परिवार, पढ़ाई और प्रेमप्रकाश तीनों के बीच एक संतुलन कायम करने का प्रयास करती है। प्रेमप्रकाश हर तरह से उसकी भरसक मदद करने का प्रयास भी करते है। परन्तु उसकी जिंदगी लगातार उलझती चली जाती है।

दरअसल 'वह' की पूरी जिंदगी दु:ख, करुणा और अपनत्व के अभाव की गाथा है। वह बहुत छोटी उम्र में मां से अलगाव के बाद खूब प्यार करने वाले पिता और भाई को बालपन में ही खो देती है। उसके बाद सौतेली मां और सौतेले भाइयों का दुर्व्यवहार और अत्याचार को सहने को विवश होती है। अपनी अनिच्छा के बावजूद सौतेली मां के दबाव पर उस पति का साथ मिलता है

जो ढोंगी और घोर पुरुषवादी मानसिकता का शिकार है जिसके लिए पत्नी का अर्थ उसकी सुविधा का ध्यान रखनेवाली और कभी भी डिमांड होने पर पति की शारीरिक जरूरतें पूरी करने को तत्पर होना है, ऊपर से कर्कशा सास और घर में होने के बावजूद न होने की भूमिका में मौजूद ससुर। यह सब उसकी जिंदगी को कष्ट कर बना देते हैं। वह पढ़ने में अव्वल है, विश्वविद्यालय में दूसरे स्थान पर है, मेहनती है और विनम्र भी। परन्तु उसकी सबसे बड़ी समस्या उसका स्वाभिमानी होना है। वह तर्क करती है, जायज-नाजायज में अंतर करना चाहती है और इज्जत के साथ अथक श्रम को भी तत्पर परन्तु यहीं उसे सबसे अधिक समस्या अपने परिवार की ओर से आती है। पहली बार वह प्रेमप्रकाश के रूप में एक ऐसे पुरुष को देखती है जिसमें अपने लिए सुरक्षा, सम्मान और प्यार का भाव पाती है। फलत: वह खिंचती चली जाती है उनके प्रति मानसिक आकर्षण में। अपनी अस्मिता और सम्मान के लिए अपने पति के घर को छोड़ वह दूसरे शहर में नौकरी भी करने जाती है परन्तु पुत्र की चिंता और पति के माफी मांगने के बाद वापस लौट आती है। चरित्रहीन पति की आदतें पुन: पहले जैसी होने पर इसबार पुत्र को साथ लेकर शहर छोड़ने का निश्चय करती है।

इस उपन्यास की कथा में दो उपकथाएं हैं जो एक भी हैं और अलग भी। पहली कथा उन कोमल भावनाओं की हैं जो उस स्त्री और उससे उम्र में काफी बड़े प्रेमप्रकाश के बीच उग आती हैं और दूसरी कथा जो कि ज्यादा गहन, सच और यथार्थ के धरातल पर बुनी गई है, वह है- 'वह' के संघर्ष के रूप में भारतीय मध्यवर्गीय समाज में स्त्री की स्थिति, उसकी चुनौतियों, संघर्ष और स्वाभिमान की।

नब्बे के दशक में जब भूमंडलीकरण का जोर तेजी से बढ़ रहा था प्रसिद्ध नारीवादी सिंथिया एनलो ने भूमंडलीकरण के झंडाबरदारों से सवाल किया था कि इस पूरी प्रक्रिया में औरतें कहां हैं। दूसरे पक्ष का जवाब जाहिर है यही था कि भूमंडलीकरण हर मर्ज की दवा है,

इस उपन्यास को पढ़ते हुए सुधीर चंद्र की पुस्तक 'रखमाबाई: स्त्री अधिकार और कानून' के रखमाबाई के विद्रोह का स्मरण स्वाभाविक है। सवा सौ साल पहले एक युवती का अपने अधिकारों को लेकर वह तेवर और साहस कि वह अंग्रेजी राज के कानूनों और भारतीय समाज के ठेकेदारों को एक साथ चुनौती देती है। यही भाव 'धूल पौधों पर' की नायिका में भी देखने को मिलता है।

यह औरतों को भी आत्मनिर्भर बना देगा, सही मायनों में पावर वूमन। इस उत्तर में यहां ज्यादा जोर रोजी, रोजगार और आर्थिक आत्मनिर्भरता पर है। आर्थिक आत्मनिर्भरता बहुत सारे मर्ज की दवा जरूर है, परन्तु हर मर्ज की नहीं। हिंदुस्तान खासतौर पर उत्तर भारत में में जो सामाजिक, सांस्कृतिक व्यवस्था सदियों से रही है उसने आर्थिक तौर पर ही नहीं मानसिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक तौर पर भी स्त्रियों को को दोयम दर्जे का जीवन जीने को विवश किया और वह भी सामाजिक, धार्मिक संस्थागत नियम कानूनों के साथ। एक ऐसी गुलामी जिसे जिया तो जाए पर समझा न जाए। वरना कोई वजह नहीं कि अत्यंत बुद्धिमान, मेहनती और विनम्र स्त्री उस जीवन को जीने को विवश हो जो न सिर्फ उस पर थोपा गया है बल्कि बार-बार समझौते करने को तत्पर होने के बावजूद उसे ही तमाम समस्याओं का कारक बताकर, अपमान सहित घर से निकल जाने को विवश कर दिया जाए इस स्त्री के जीवन में सभी दुखों की एक वजह किसी एक सही पुरुष का साथ न होना है? पिता और भाई की असमय मृत्यु, पति का नालायक और निकम्मा होना... क्या यही उसकी समस्याओं की जड़ नहीं बन जाता? उसकी सारी योग्यता इसी कारण उसके लिए निरर्थक नहीं बन जाती? क्या इसी वजह से लगभग अपनी पिता की उम्र के एक प्रौढ़ पुरुष के करीब आने को वह विवश नहीं होती, जिसका सहारा उसे मिल सके। निश्चित तौर पर मध्यवर्गीय कस्बाई समाज की सोच और पुरुषवादी अहं की भेट चढ़ जाता है, स्वाभिमानी स्त्री का दर्प और उसके जीवन का एक बड़ा हिस्सा। इस प्रश्न को यह उपन्यास पूरी शिद्दत और गंभीरता के साथ उठाता है।

प्रेमप्रकाश और उस स्त्री के बीच का प्रेम एक महत्वपूर्ण कड़ी है इस उपन्यास की। प्रेमप्रकाश से मिलकर उसे अपने समस्याओं से लड़ने की ताकत मिलती है, हौसला और हिम्मत भी। उसे लगता है कि उसकी बेरंग, निर्जीव सी मशीनी दुनिया में चेतन जागृत हो गयी है। वह स्वयं कहती है- 'आपसे मिलने के पहले मैं मशीन की तरह पड़ी थी। आपने छू दिया तो जीवित हो उठी... मैं मृत थी, जी उठी। अब मैं जीना चाहती हूं।' लेकिन प्रेमप्रकाश के लिए भी यह अनुभव क्या ऐसा ही है? उससे पहली मुलाकात के समय प्रेमप्रकाश की भावनाएं कुछ इस तरह व्यक्त होती हैं- 'उसके हाथ चेहरे से ज्यादा गोरे दिखते थे'। वह सामान्य रूप से आकर्षक थी... यों अगर देखो तो देखते चले जाने का मन भले ही न करता हो, उधर से आंख उचटती भी नहीं थी। 'दूसरी मुलाकात के समय की प्रतिक्रिया — 'उसके गोरे-गोरे हाथ कुर्ते की बांह से आधा बाहर निकल आए थे, सुडौल, आनुपातिक, गोल गोल... इतने चिकने कि उंगली रखो तो फिसलती चली जाए।' पुन: चुस्त कपड़ों में पीछे उछली हुई थी उसकी देहयष्टि... छरहरी, जैसे एकदम तराशी हुई- कमर पतली... नितंब पीछे की तरफ उठे हुए, टांगें जो नीचे क्रमश: पतली होती हुई गयी थीं... उजली एड़ी भी। प्रेमप्रकाश की निगाहें वापस

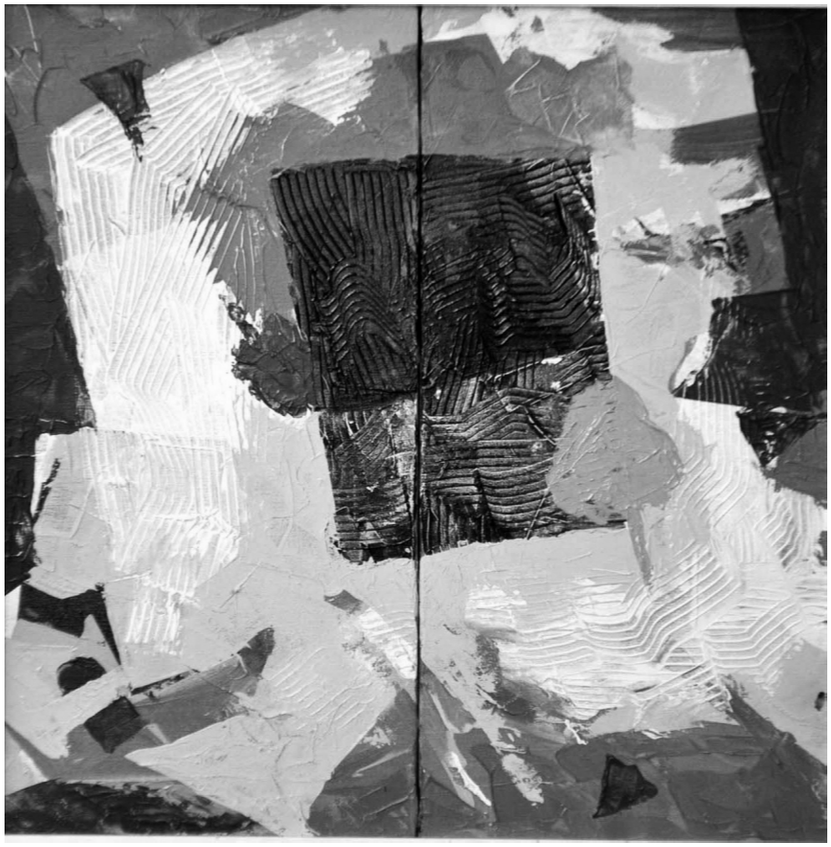

सुमन सिंह की एक कलाकृति

उपरी हिस्से की तरफ उठ गयीं। वहां जहां खुला था कि चिकनी गोरी बाहें... दोनों तरफ लाल कुर्ते में बंधी मांसल गोलाई जो सुनहरी होती हुई नीचे उतरती थी... पीछे से और भरी-भरी... और गोल... और गोरी...' प्रेमप्रकाश के यह कहने पर कि मेरे मन में तुम्हारे लिए आकर्षण है, के जवाब में वह कहती है- 'शरीर में आपकी रुचि दिखती है, मेरी नहीं है' मर चुकी कहना ठीक नहीं होगा क्योंकि कभी थी ही नहीं..... मुझे शारीरिक क्रियाओं में अरुचि ही है। सोचती हूं कुछ दिनों में आपकी भी इन चीजों को लेकर मुझमें रुचि नहीं बचेगी। मैं आपको आहत नहीं करना चाहती, पर क्या करूं।'

इसके बावजूद प्रेमप्रकाश का बुद्धिवादी मन है कि मानता ही नहीं और ख्वाब देखता है कि - 'प्यार में शरीर क्या से क्या हो जाता है... समझ में आ रहा है थोड़ा-थोड़ा, जीवन में इतनी देर से। वह चली गयी तब भी खुशबू, मुझसे लिपटी थी... जैसे थोड़ी देर पहले वह। जब वह मुझे पूरा अपने में ले लेगी ... तब पता नहीं क्या हो जाएगी... और क्या मुझे बना देगी। इस दुनिया से जाने से पहले मैं उस अनुभूति को चखना चाहता हूं... जहां दो जीव पूर्णत: एक हो जाते हैं, जहां उनके मन का प्यार अथाह प्यार उनके शरीरों में उतर आता है, वहां थिरकता है, उन्हें एक कर देता है... इस खयाल से ही पूरे जिस्म में छरछराहट दौड़ने लगती है।'

उस स्त्री के सभी दु:खों, यंत्रणाओं का साक्षी, दुनियादारी की समझ रखनेवाले, ख्यातिलब्ध विद्वान की यह प्रतिक्रिया औरत को जिस्म के रूप मात्र में देखने वाली दृष्टि से कितनी अलग है विचारणीय है। इसके साथ ही शिक्षा व्यवस्था में मौजूद भ्रष्टाचार जो चाहे वह आर्थिक हो या छात्राओं को शारीरिक सम्बंध बनाने के लिए विवश करने वाले अध्यापक, हमें आत्मचिंतन को मजबूर करता है। पात्रों के गठन, उनके मानस निर्माण, विवेक, बुद्धि, तर्क-वितर्क की क्षमता, उनके जीवन के चुनाव, दबाव, उनकी टाइमिंग में संतुलन से न सिर्फ प्रभावी चरित्र-चित्रण संभव हुआ है अपितु लेखक ने पात्रों के नामकरण में भी उनकी प्रवृत्तियों को आधार बनाया है। पात्रों का जमघट भी कहीं नहीं है, जिससे पात्रों की शक्लें पहचानना सरल हुआ है और बेवजह कोई पात्र घिसटता हुआ भी नहीं प्रतीत होता। उपन्यास का भाषा कौशल लाजवाब है मध्यवर्गीय आत्मचिंतन व आत्मपरीक्षण की भाषा, समाजशास्त्रीय चिंतक का चिंतन हो, मन:स्थितियों का चित्रण हो या फिर सामान्य कथा भाषा उपन्यासकार की भाषाई सिद्धस्तता काबिलेतारीफ है।

इस उपन्यास को पढ़ते हुए सुधीर चंद्र की पुस्तक 'रखमाबाई स्त्री अधिकार और कानून' के रखमाबाई के विद्रोह का स्मरण आना स्वाभाविक है। आज से सवा सौ साल पहले एक युवती का अपने अधिकारों को लेकर यह तेवर और साहस कि वह अंग्रेजी राज के कानूनों और भारतीय समाज के ठेकेदारों को एक साथ चुनौती देती है। यही भाव 'धूल पौधों पर' की नायिका में भी देखने को मिलता है। यह अकारण नहीं कि रखमाबाई और 'वह' दोनों शिक्षित और जागरूक स्त्रियां है। तथापि इस उपन्यास की नायिका का संघर्ष रखमाबाई की तरह पूरे स्त्री समाज का रूपक नहीं ले पाता।

उपन्यास में अनुभव के साथ कल्पनाशीलता और उपन्यासकार की वैचारिक पक्ष की भूमिका निर्णायक होती ही है। वैसे भी विचारधारा के बिना किया गया सृजन कर्म यथास्थिति का विरोध तत्परता के साथ कभी नहीं करता और उसके द्वारा प्रस्थापित विकल्पों के प्रति संशय हमेशा बना रहता है। कुल मिलाकर यह उपन्यास स्त्री विमर्श की चुनौतियों को तो सामने लाता ही है, मध्यवर्ग की आत्मसमीक्षा, उसके संघर्ष और पतन की गाथा भी प्रस्तुत करता है। ■

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की नई वार्षिकी

। लोक। शास्त्रीय। परंपरा। आधुनिक।

ता ना-बा ना

कला-संस्कृति : व्यवहार और विमर्श

हिंदी और हिंदी से जुड़ी बोलियों की सांस्कृतिक विरासत, उनकी कला परंपराओं, उनकी लोक मान्यताओं, लोक, रूपंकर एवं प्रदर्शनकारी कलाओं के साथ–साथ भारतीय नृत्य संगीत की वैभवशाली धरोहर, रंगमंच, स्थापत्य, शिल्प, चित्रकला इत्यादि इस पत्रिका में व्यवहार और विमर्श की तरह सम्मिलित रहेंगे।

- शीर्षस्थ गायिका किशोरी अमोनकर से ध्रुपद गायक गुंदेचा बंधु की बातचीत।
- कथक नृत्यांगना पद्मश्री शोभना नारायण से आनंद सिन्हा की बातचीत।
- जेम्स प्रिंसेप के बनारस के स्केच संग्रह पर युवा कवि व्योमेश शुक्ल के नोट्स – 'एक बार फिर यह शहर बसाया जा सकेगा'।
- 'लोक बोलियों के अंतर्संवाद के आधार' पर श्यामसुंदर दुबे की विवेचना।
- ख्यातिप्राप्त चित्रकार प्रभाकर कोल्ते का कला चिंतन – 'आस्वाद : एक दर्शन प्रक्रिया'
- कथावाचक प्रेम प्रकाश पांडे की कथा वाचन परंपरा पर विहंगम दृष्टि।
- सुप्रसिद्ध पंडवानी गायिका तीजन बाई से महावीर अग्रवाल की बातचीत।
- जे. स्वामीनाथन और सैयद हैदर रज़ा के चित्रकर्म पर कवि, आलोचक और संस्कृतिकर्मी अशोक वाजपेयी से चित्रकार मनीष पुष्कले का संवाद।
- प्रसिद्ध चित्रकार अखिलेश द्वारा विश्वविख्यात रंगकर्मी हबीब तनवीर का एक व्यक्तिगत संस्मरण।
- रंगकर्म के जीनियस पंडित सत्यदेव दुबे का सत्यदेव त्रिपाठी द्वारा स्मरण।
- बांग्ला रंगमंच का इतिहास और वर्तमान पर कृपाशंकर चौबे का आलेख।
- गायक पंडित परमानंद यादव द्वारा अपने गुरु कुमार गंधर्व की कुछ यादें।
- बदलते भारतीय कला बाजार पर सीरज सक्सेना।
- हवेली संगीत के मूर्धन्य गायक पंडित गोकुलोत्सव महाराज से देवेश वर्मा का संवाद।

और भी बहुत कुछ...

दसवें विश्व हिंदी सम्मेलन (10–12 सितंबर, 2015) में प्रवेशांक का लोकार्पण।

संपादकीय संपर्क : 09764495276 ई–मेल : tanabana2015@gmail.com

PUSTAK VARTA JAN-FEB-2015 FINAL_JULY-AUGUST 2014.qxd 21-06-2015 18:35 Page 50

हिंदी समाज की स्मृति की सीमा

डॉ. अशोकनाथ त्रिपाठी

संपर्क : साहित्य विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442005

समास-11

कला, साहित्य और सभ्यता को केंद्र में रखते हुए रजा फाउंडेशन द्वारा 'समास' का प्रकाशन किया जाता है। इसके नए अंक में 'हिंदी समाज के स्मृति की सीमा' पर अशोक वाजपेयी से संपादक उदयन वाजपेयी की एक बड़ी लंबी बातचीत दी गई है, जिसमें सजग रचनाकार और संस्कृतिकर्मी अशोक जी के माध्यम से हिंदी जगत की औपचारिक और अनौपचारिक वीथियों में सुगति- दुर्गति को लेकर चिंता, ग्लानि और असहायता के स्वर के साथ ही कुछ भास्वर क्षण भी याद किए गए हैं।

'कविता पर कुछ पंक्तियों के बहाने' शिरीष ढोबले छोटे-बड़े कई उद्धरणों से कविता, पाठक और कवि के बीच के संबंधों को जानने-उजागर करने की कोशिश करते हैं। मसलन नीत्शे पाठक की श्रेणी बताते हुए कहते हैं 'निकृष्टतम पाठक वे हैं जो लुटेरी सेना की तरह व्यवहार करते हैं। वे कुछ हिस्से उठाते हैं, जिन्हें वे इस्तेमाल करते हैं, बचे हुए को वे मैला कर देते हैं, वे भ्रम पैदा करते हैं और संपूर्ण का असम्मान करते हैं।'

दरअसल नीत्शे की यह पंक्ति वर्तमान काव्य आलोचकों के लिए काफी मौजूं साबित होती है। इस आलेख में इस पर भी सवाल खड़े किए गए हैं कि कविता के बारे में कविता जो कहती है (और वह जो कविता नहीं कहती है) उससे अधिक कहने की गुंजाइश बची भी नहीं रह सकती। जितेन्द्र कुमार और बजरंग बिश्नोई की कविताएं अपने समय के सच का बयान करती हुई पाठकों का ध्यान खींचती हैं। बिश्नोई 'अपने सुख' कविता में कहते हैं -

उसने शुरू कर दी तलाश दु:खों की
कुछ दूर भागते थे उसे देखकर
वे पहचान लेते थे बहुरूपिया को
जिसने चुराकर कुछ दुखों को पहन लिया था
सुखों वाला जामा
लेकिन बरकरार था उनका जैविक गुण
दरअसल सुखों का कोई
गुणसूत्र ही नहीं है

इस कविता में सुख-दु:ख प्रत्यय को एक बारीक रेखा से अलगाकर दिखाया गया है। 'ज्ञानदीक्षा' शीर्षक से आचार्य क्षितिमोहन सेन का एक दीक्षांत भाषण ऐतिहासिक रूप से महत्वपूर्ण है जो 20 अक्टूबर 1940 को बंबई हिंदी विद्यापीठ में उन्होंने दिया था। उन्होंने बड़े रोचक शैली में अपने व्याख्यान का प्रारंभ किया है 'मानो पश्चिम भारत ने प्रीतिपूर्वक पूर्व भारत को निमंत्रित किया है।' इस भाषण में उन्होंने देवताओं के पूर्णाभिषेक का विधान भी समझाया है। आज के युग में स्त्री सशक्तिकरण

की बात होती रहती है। क्षितिमोहन सेन अपने इस व्याख्यान में इस बात की पुष्टि करते हैं कि जब-जब पुरुष शक्ति पराजित हुई है तब-तब नारी शक्ति की तपस्या ने उसकी रक्षा की है। वे इसी व्याख्यान में भाषा को एकता का प्रधान वाहक मानते हैं लेकिन उसको ऐक्य-विधायक उपादान नहीं स्वीकार करते हैं। उनके इस व्याख्यान को इस अंक की महत्वपूर्ण प्रस्तुति के रूप में देखा जा सकता है।

भाषा के सवाल पर भगवान सिंह की टिप्पणी भी मननीय है। प्रवासिनी महाकुमुद अपने लेख 'हिंदी संसार में मेरी यात्रा के कुछ पड़ाव' में यह बताना चाहती हैं कि किन-किन मोड़ों पर उन्होंने हिंदी को स्पर्श किया। साहित्य को परिभाषित करते हुए वह बताती हैं कि 'साहित्य मनुष्य को यही सुख देता है कि उसका रचयिता कवि, कथाकार, उपन्यासकार, नाटककार अथवा समालोचक होता है' अर्थात साहित्य व्यक्ति को एक नई संज्ञा से विभूषित भी करता है।

'प्रेमचंद और समाजवाद' पर लिखते हुए कमल किशोर गोयनका ने प्रेमचंद को नये नजरिए से देखने की कोशिश की है। उन्होंने कई प्रमाणों के माध्यम से यह भी बताने की कोशिश की है कि प्रेमचंद को जैसा जांचा-परखा गया है उसके अतिरिक्त भी उनमें बहुत कुछ शेष हैं जो चर्चा योग्य है। 'समास' का यह अंक साहित्य जगत में महत्वपूर्ण दस्तक है और इसका स्वागत किया जाना चाहिए।

वागर्थ

वागर्थ के इस अंक में 'हिंदी कविता के वर्तमान पचास वर्ष' शीर्षक से खगेन्द्र ठाकुर का आलेख है जिसमें वह कहते हैं कि 'नई कविता के बाद हिंदी कविता का आगमन होता है। नई कविता मुख्यत: वैयक्तिक चेतना द्वारा सामाजिक यथार्थ के निषेध के दार्शनिक स्वर की जगह अस्तित्ववाद को अंगीकार करने वाली

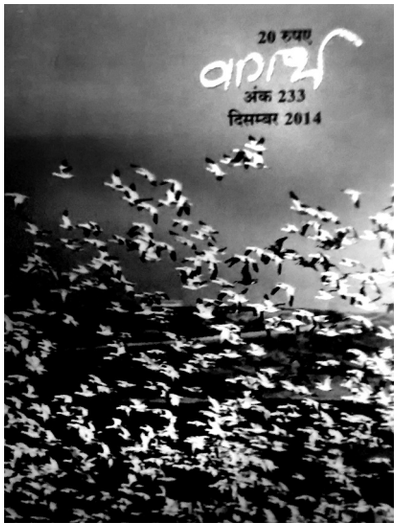

कविता थी। उस दौर के बाद पुन: सामाजिक यथार्थ को स्वीकारने की ओर कविता बढ़ी है।' उन्होंने कवि केदार नाथ सिंह के हवाले से कविता में प्रवृत्तिगत बदलाव की ओर इशारा किया है।

चंचल चौहान ने 'मुक्तिबोध के बाद की कविता' की चर्चा करते हुए हिंदी कविता की अर्धशती के कालखंड को देखने का प्रयास किया है। उनका मानना है कि अपढ़ आलोचक चाहे जो कहें, इन पचास वर्षों में कई पीढ़ी के रचनाकार उपस्थित रहे हैं। कविता की वापसी के बाद अब जड़ों की वापसी का भी नारा दिखाई पड़ने लगा है। चंचल जी ने अपने आलेख में बड़े ब्योरे से अपनी बात रखी है। इसी क्रम में विजय कुमार का आलेख '21वीं सदी की हिंदी कविता' भी उल्लेखनीय है।

कथा साहित्य में यासुरी कावाबाटा की 'द मोल'(जापानी से अनुवाद-सुशांत प्रिय) एवं शिषेंदु मुखोपाध्याय की 'बुद्धिराम' (बंगला से अनुवाद-जयप्रकाश सिंह बंधू) भी अच्छी कहानियां हैं। बीरू बंडल की चार नेपाली कविता जिसका अनुवाद कालिका प्रसाद सिंह कर्णदीप ने किया है, इस अंक में प्रकाशित हैं। 'चैत की लाल टहनी' शीर्षक से तेजी ईशा की तीन कविताएं हैं। जिसमें वह कहती हैं -

सोचते हुए
नहीं लिखी जा सकती
कोई कविता...

'पुल बहुत अश्लील लगता है' शीर्षक से यश मालवीय का गीत बहुत रोचक है। वह कहते हैं -

बाश्शा के हुक्म की तामील लगता है
नदी सूखी पुल बहुत अश्लील लगता है।

दरअसल इस गीत के बहाने मालवीय समसामयिक चिंता को देखने का प्रयास करते हैं। कमल किशोर गोयनका ने कृष्णदत्त पालीवाल के संपादन में 'स.ही.वात्स्यायन 'अज्ञेय' के अभिभाषण दो खंड' की समीक्षा की है। वे अज्ञेय के बहुआयामी चिंतन की ओर ध्यान दिलाते हैं। समग्रता में यह एक महत्वपूर्ण अंक है।

पक्षधर

विनोद तिवारी के संपादकत्व में

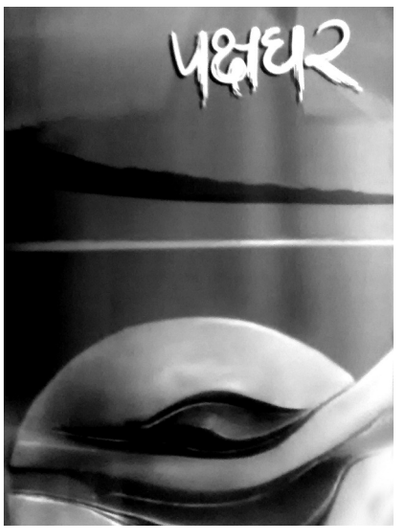

अर्धवार्षिक 'पक्षधर' पिछले कई सालों से साहित्यिक हलचल में अपने को स्थापित किए हुए है। विनोद अक्सर अपने 'संपादकीय' में ऐसे मुद्दे सामने लाते हैं जिनमें समसामयिक बहस की पूरी गुंजाइश रहती है। प्रस्तुत अंक की संपादकीय को उन्होंने 'अंधेरे में' पर एक अधूरा नोट कहा है। हम सभी लोग जानते हैं कि वह कविता

अपने पचास बरस पूर्ण कर चुकी है और कई पत्रिकाओं ने उस पर विचार भी किया है। लेकिन इस संपादकीय के बहाने कविता के अंधकार को पुन: प्रकाशित किया जा सकता है। 'एक कवि एक राग' स्तंभ में हरिश्चंद्र पांडेय की कुछ कविताएं दी गई हैं। पांडेय जी एक सजग एवं संवेदनशील कवि हैं। उनकी कविता भी उसी सजगता का प्रतिफलन है। उनकी कविताओं में जितनी सरलता है उतनी ही साफगोई भी दिखाई पड़ती है। 'लोहा' कविता की अंतिम चार पंक्तियां सबूत के रूप में देखी जा सकती हैं –

शोधकर्ता मालूम कर रहे हैं
लोहे की किस कोटि की गुणवत्ता से
और भी विकसित हो सकता है ए.के.47
शोधकर्ता ही देख रहे हैं

कैसे और भी अभेद बनाई जा सकती है बुलेटप्रूफ जैकेट'

इसी अंक में हरिश्चंद्र पांडेय की कविताओं को ध्यान में रखकर सुबोध शुक्ल का लंबा आलेख है जिसे उन्होंने 'सभ्यताओं के अवशेष में अपना जीवाश्म खोजती कविता' शीर्षक दिया है। वे यह स्वीकार करते हैं कि 'ये कविताएं अपनी आश्वस्ति में जितनी विचलित कर देने वाली हैं अपने प्रतिरोध में उतनी निर्भ्रांत और उत्सुक भी हैं।

'उसने कहा था' कहानी के सौ बरस हो चुके हैं, इस कहानी को केंद्र में रखकर प्रो. नामवर सिंह के व्याख्यान का लिप्यंतरित अंश दिया गया है। इसमें उन्होंने यह स्वीकार किया है कि इसके शीर्षक में एक चुम्बकीय गुण है। इस कहानी को आधार मानते हुए उन्होंने कई विमर्शों की ओर इशारा किया है। वे यह भी कहते हैं कि 'खूबी की बात यह है कि उस जमाने में राज भक्ति के साथ एक और चीज थी जो आजकल बढ़ गयी है। देशभक्ति की मजबूत नींव कैसे कायम होती है इस कहानी में बताया गया है।' शिरीष कुमार मौर्य का आलेख 'यह कई उम्रों की कविता है' कुंवर नारायण की कविता से एक रोचक संवाद है। कई बार जब आलोचना की जाती है तो लोग व्यक्तिगत कुंठा निकालने लगते हैं। इन्हीं सब मसलों को ध्यान में रखकर रवि श्रीवास्तव का लेख 'आलोचना के लिए नैतिक साहस की जरूरत होती है' देखा जा सकता है।

इस अंक में अनुज लुगुन की लंबी कविता 'बाघ और सुगुना मुंडा की बेटी' दी गई है जिसको संपादक ने अब तक की सबसे लंबी कविता कहा है और शायद वह है भी। अनुज अपने खास तेवर के द्वारा जाने जाते हैं। यह कविता उसी की अगली कड़ी के रूप में भी देखी जा सकती है। 'स्पेक्टर्स ऑफ मार्क्स' जाक दरीदां की महत्वपूर्ण पुस्तक है। राम कीर्ति शुक्ल ने इसका किश्तवार अनुवाद 'प्रेत की छाया कृति' नाम से किया है। इस अंक के साथ इस पुस्तक का अनुवाद कार्य पूर्ण होता है, यह देरिदां को समझाने में सहायक होगा। कविता स्तंभ में नंद किशोर आचार्य और राजी सेठ की कई ताजा और पठनीय कविताएं हैं।

अल्पना मिश्र के प्रथम उपन्यास 'अन्हियारे तलछट में चमका' की समीक्षा अमिताभ राय ने की है। वे यह अनुभव करते हैं कि इस उपन्यास में इतिहास और स्थान तो है पर काल अथवा समय का बोध बहुत स्पष्ट नहीं है। अशोक वाजपेयी की कविता 'कहीं कोई दरवाजा' पर संतोष कुमार की समीक्षा है। एस.आर. हर्नोट की 'फूलों वाली लड़की' एक पठनीय कहानी है। इतने वैविध्य के साथ बुने गए इस अंक के लिए बधाई।

ग़ज़लकार

रचनात्मकता का प्रस्फुटन भौगोलिक सीमाओं का अतिक्रमण कर जाता है। 'ग़जलकार' का यह अंक उसी का प्रतिफलन प्रतीत होता है जिसे इसके संपादक दीपक रूहानी ने खूबसूरती से

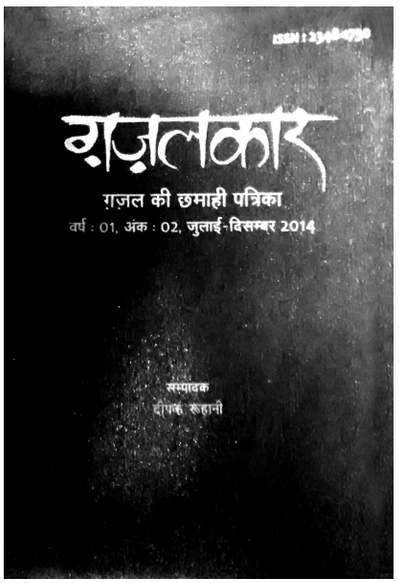

अंजाम दिया है। इसका कलेवर और सामग्री काबिलेतारीफ है। पत्रिका में स्तंभों का विभाजन बड़ी समझदारी से किया गया है। मसलन इस अंक के शायर के बहाने अहमद निसार और सिराज औरंगाबादी को पेश किया गया है। अहमद निसार लिखते हैं –

मेरी जिंदगी के मालिक मुझे आइना बना दे
मैं कहानी बन गया हूं मुझे वाकिया बना दे

इसी प्रकार सिराज औरंगाबादी कहते हैं कि –

इलाही मुझको दर्दे ला दवा दे
मुझे तौफीके-इश्के बेरिया दे

क्लासिक गजल की शेरिआत (काव्यशास्त्र) के बहाने शम्सुर्रहमान फारुकी कई महत्वपूर्ण स्थापनाएं करते हैं। वे बारीकी से इस सवाल पर गौर फरमाते हैं कि शेर से हमें क्या हासिल होता है? इस आलेख के बहाने उर्दू ग़ज़ल के शेरिआत को समझने-समझाने में आसानी होगी। अल्लमा कौसर जायसी पर फारूक जायसी, श्री राम सिंह शलभ पर विजय बहादुर सिंह, राजेंद्र नाथ रहबर पर आबशार आदम के विस्तृत लेख हैं जिनमें उन शायरों की शायरी का मिजाज़ देखा-पहचाना जा सकता है। उर्दू

शायरी की महत्वपूर्ण शायरात पर असलम इलाहाबादी का लेख है, जिसमें वे फातिमा हसन की शायरी का हवाला देते हुए कहते हैं कि इप्तिदाई दौर की शायरी में बला की नग्मगी और गनाइयत का एहसास मिलता है। वे कहतीं हैं –

कहो तो नाम मैं दे दूं इसे मुहब्बत का
जो इक अलाव है जलती हुई रिफाक्त का

इसी क्रम में शाहिदा हसन की शायरी को भी देखने का प्रयास किया गया है। शाहिदा हसन की शायरी में एक अलग तरह की ताजगी का एहसास मिलता है। बसीम बरेलवी की आत्मकथा का अंश भी दिया गया है। यश मालवीय और श्रीधर मिश्र ने उर्दू गजलों के साथ-साथ हिंदी गजल को भी देखने का प्रयास किया है। गजलकार का यह अंक सराहनीय है।

नया ज्ञानोदय

नया ज्ञानोदय हमेशा से एक संवेदनशील पत्रिका रही है, दिसंबर का अंक कुछ खास संवेदनशील हो उठा है। शायद कुछ लोगों को दिसंबर 84 की वह भयानक घटना याद हो जब इस उपमहादीप में सबसे बड़ी त्रासदी हुई थी। प्रसिद्ध

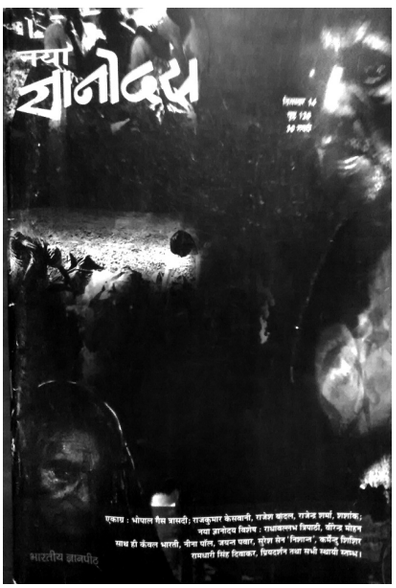

पत्रकार राजकुमार केसवानी ने 'भोपाल' नामक लेख में अपनी यादों के माध्यम से उस यूनियन कार्बाइड के रिसाव की घटना को पुनः सामने ला दिया है। राजेश बादल ने भी अपनी डायरी के बहाने भोपाल गैस त्रासदी की घटना को उकेरा है। इसी घटना पर राजेंद्र शर्मा की कविता बड़ी मार्मिक है–

यहां मौत ने कब्ज़ा कर लिया है
सपनों पर
हर रात मर जाता है
शहर

शशांक की लंबी कहानी 'उतरन' भी उसी सच को बयान करती है। नया ज्ञानोदय विशेष में राधाबल्लभ त्रिपाठी की 'अथ मोक्षमूलरकथा' एवं विरेन्द्र मोहन का 'सांस्कृतिक संकट' देखा जा सकता है। दलित लेखक कंवल भारती के लेख 'कबीर का अवधू से संवाद' में यह सवाल किया गया है कि 'कबीर ने जिस अवधू से संवाद किया है, वह कौन है? वैष्णव है या वैष्णव से भिन्न कोई अन्य? दरअसल, वह यह कहते हैं कि अवधू से कबीर क्या कहना चाहते हैं, यह जानना भी कबीर के पाठकों के लिए बहुत जरूरी है। प्रवासी कथाकार नीना पाल की कहानी 'कागज का टुकड़ा' और प्रमोद राय की 'पिट्ठू' इस अंक को पठनीय बनाते हैं।

बनास जन

बनास जन के प्रस्तुत अंक में संपादकीय के बहाने पल्लव ने भारतीय राजनीति में हुए बदलाव को रेखांकित करने का प्रयास किया है। उन्होंने सवाल उठाया है कि इस उठापटक में साहित्य एवं साहित्यकारों की क्या भूमिका होगी। विचारधारा की जरूरत ऐसे समय में महसूस की जाती है जब रचनाओं में सामाजिक मुक्ति देखने वाला लेखक इस परिवर्तन में मौन दिखाई दे। विनोद पदरज ने अपने आत्मकथ्य के बाद कुछ कविताएं भी दी हैं। आत्मकथ्य में वह कहते हैं कि 'कविता मेरे

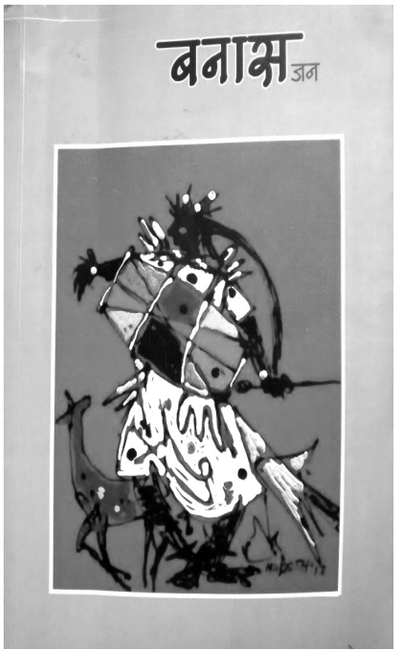

तंई केवल शब्दों की हुनरमंदी नहीं, आत्मा का शोक है। जिसका विलाप, उसका हर्ष, उसका आह्लाद है।'

प्रसंग एक में सियाराम शर्मा 'विश्व व्यापार संगठन और भारतीय कृषि' पर अपनी पीड़ा व्यक्त करते हुए बताते हैं कि 'कृषि क्षेत्र में विश्व व्यापार संगठन की शुरुआत इन तर्कों के साथ हुई है कि अक्षम प्रतियोगियों की आर्थिक सहायता बंद कर दी जाए...। आगे वह यह भी मानते हैं कि व्यापार के लाभों का जो सब्जबाग दिखाया जाता है वह हमारे देश के बौद्धिक वर्ग को भी प्रभावित करता रहा है।' इस खतरे से सभी को वाकिफ रहना चाहिए।

प्रसंग दो- में राकेश कुमार ने 'हिंदी और अन्य भारतीय भाषाएं बनाम अंग्रेजी' शीर्षक से रघुबीर सहाय की चिंताओं को उजागर करने की कोशिश की है। अज्ञेय के हवाले से वे यह साबित करना चाहते हैं कि 'मानवीय संस्कृति की सबसे मूल्यवान उपलब्धि भाषा है।'

वह यह भी बताना चाहते हैं कि अंग्रेजी को प्रमुखता प्रदान करके हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में पिछड़ेपन और

हीनताबोध लाने का प्रयास किया जाता है लेकिन हिंदी लाने का यह मतलब नहीं है कि उसे समझने के लिए बार-बार शब्दकोश का सहारा लेना पड़े। ऐसी हिंदी को रघुबीर सहाय 'सामंती हिंदी' कहते हैं। इसलिए वे सामंती अंग्रेजी के साथ सामंती हिंदी से भी मुक्ति की बात चाहते हैं।

वीरेन्द्र डंगवाल की कविताओं को बनास जन विशेष में शामिल किया गया है। निलेश रघुवंशी, रामजी यादव और रणेंद्र के उपन्यास का अंश भी पठनीय है। ऋतुराज की कविताओं में हमेशा से एक नया भाव दिखाई पड़ता है। 'फेरा' में वे पूछते हैं-

हिंदी का कोई रथ नहीं था।
बैलगाड़ी नहीं थी
साइकिल तो कब की खारिज कर दी गई थी
फिर वह किस पर सवार होकर आया

कविता एक बड़ा सवाल उठाती है। ऋतुराज की यह खासियत है कि वह बड़ी से बड़ी बात अत्यंत सहज ढंग से व्यक्त कर देते हैं। राकेश बिहारी की 'प्रतीक्षा' और रामजी तिवारी की 'मैं क्या जवाब देता' कहानियां अपने कई नए प्रयोगों के लिए उल्लेखनीय हैं।

प्रियम अंकित ने मार्कंडेय के कथाकार और आलोचक रूप को टटोलने का प्रयास किया है। वे कहते हैं कि आलोचक के रूप में मार्कंडेय का सबसे शक्तिशाली हस्तक्षेप नई कहानी आंदोलन के भीतर है मगर वह सिर्फ वहीं तक सीमित नहीं है। कवि केदारनाथ अग्रवाल के आलोचनात्मक लेखन की ओर खास ध्यान नहीं दिया गया है। इसकी पड़ताल कर गोपाल प्रधान ने एक अच्छी पहल की है। पल्लव द्वारा संपादित यह अंक कई विमर्शों और कई स्थापनाओं को सामने लाता है।

संदर्भित पत्रिकाएं :

1. समास : नवंबर 2014, सं.: उदयन वाजपेयी, रजा फाउंडेशन सी-4, 139 सफदरजंग डेवलपमेंट एरिया नयी दिल्ली - 110016 मूल्य ₹-60

2. वागर्थ: दिसंबर 2014, सं.: एकांत श्रीवास्तव, भारतीय भाषा परिषद, कोलकाता मूल्य: ₹-20

3. पक्षधर : जुलाई-दिसंबर 2014, सं.: विनोद तिवारी, सी-4/604, आलिब काउन्टी सेक्टर-5, वसुंधरा, गाजियाबाद - 201012 मूल्य : ₹-75

4. गजलकार : जुलाई-दिसंबर 2014, सं.: दीपक रूहानी, भदारी कला, लालगंज, प्रतापगढ़ - 230132 मूल्य: ₹-100

5. नया ज्ञानोदय: नवंबर 2014 , सं.: लीलाधर मंडलोई, भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोधी रोड, नयी दिल्ली - 110003, मूल्य : ₹ 30

6. बनास जन: अक्टूबर-दिसंबर 14, सं.: पल्लव, डी.डी.ए ब्लाक सी एंड डी कनिष्क अपार्टमेंट, शालीमार बाग, दिल्ली - 110096 मूल्य : ₹ 75 ■

PUSTAK VARTA JAN-FEB-2015 FINAL_JULY-AUGUST 2014.qxd 21-06-2015 18:35 Page 55

हिंदी समय : हिंदी का सबसे बड़ा ऑनलाइन पुस्तकालय

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय से यह अपेक्षा की जाती है कि वह हिंदी को अंतरराष्ट्रीय भाषा बनने के लिए आवश्यक उपकरण उपलब्ध कराए। यह तभी संभव हो सकता है जब हिंदी न सिर्फ गंभीर विमर्श का माध्यम बने, बल्कि हिंदी में लिखा गया महत्वपूर्ण साहित्य देश-विदेश के विशाल पाठक समुदाय तक पहुँचे। विश्वविद्यालय द्वारा संचालित हिंदी समय (http://www.hindisamay.com) इसी दिशा में एक महत्वाकांक्षी प्रयास है। हिंदी समय का उद्देश्य यह है कि हिंदी में जो कुछ महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध है उसे हिंदी समय के जरिए दुनिया भर में फैले साहित्य प्रेमियों को उपलब्ध कराया जाए, चाहे वह मौलिक रूप से हिंदी में लिखी गई हो या अनुवाद के जरिए हिंदी में आई हो।

हिंदी समय पर उपलब्ध सामग्री को कई खंडों में बाँटा गया है - उपन्यास, कहानी, कविता, नाटक, आलोचना, सिनेमा, संस्मरण, व्यंग्य, निबंध, बाल-साहित्य, विमर्श, लेखक के समग्र और संचयन, अनुवाद, कोश तथा विविध, जिसमें वैचारिकी, यात्रा-वृत्तांत, डायरी, लघुकथाएँ तथा अन्य अनेक मूल्यवान सामग्रियाँ शामिल हैं। कोश के अंतर्गत बधाँ हिंदी शब्दकोश तथा समाज-विज्ञान विश्वकोश जैसे कई महत्वपूर्ण कोश हिंदी समय पर उपलब्ध हैं। एक खंड 'हिंदी लेखक' भी है, जिसमें हिंदी के रचनाकारों का संक्षिप्त परिचय, तसवीर, पता, फोन नंबर आदि उपलब्ध हैं। इस खंड का भी निरंतर विस्तार किया जा रहा है।

हिंदी समय पर अब तक लगभग ग्यारह सौ रचनाकारों की रचनाएँ अपलोड की जा चुकी हैं। इस वेबसाईट पर उपस्थित प्रमुख लेखकों में तुलसीदास, मलिक मुहम्मद जायसी, रसखान, बनारसी शर्मा गुलेरी, बालकृष्ण भट्ट, भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक, मोहनदास करमचंद गांधी, रतननाथ सरशार, फ्योदोर दोस्तोयेव्स्की, बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय, शरतचंद्र चट्टोपाध्याय, रवींद्रनाथ टैगोर, रामचंद्र शुक्ल, जोतीराव गोविंदराव फुले, भीमराव आंबेडकर, राममनोहर लोहिया, वृंदावनलाल वर्मा, मोहन राकेश, हरिशंकर परसाई, विद्यानिवास मिश्र, भिखारी ठाकुर, रघुवीर सहाय, देवेंद्र कुमार बंगाली, हैरियट बीचर स्टो और गाब्रिएल गार्सिया मार्केज सहित और भी इतने ही महत्वपूर्ण रचनाकार शामिल हैं।

हिंदी समय पर नियमित तौर पर प्रकाशित होने वाली सामग्री के अतिरिक्त समय समय पर विशेषांक भी निकाले जाते हैं। अभी पिछले दिनों हिंदी समय पर प्रकाशित 'सिनेमा विशेषांक' और 'अज्ञेय विशेषांक' को पाठकों के बीच भरपूर सराहना मिली थी। इसी कड़ी में मई में 'ललित निबंध विशेषांक' और जून में 'यात्रा संस्मरण विशेषांक' भी प्रस्तावित हैं। इनके लिए सामग्री तैयार की जा रही है। लेखकों और साहित्य प्रेमी पाठकों से अनुरोध है कि वह इन विषयों से संबंधित सामग्री हमें भिजवाने की कृपा करें। यह सामग्री hindeesamay@gmail.com पर मेल की जा सकती है।

PUSTAK VARTA JAN-FEB-2015 FINAL_JULY-AUGUST 2014.qxd 21-06-2015 18:35 Page 56

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय
अपील

स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय हिंदी के रचनाकारों की अमूल्य सामग्री संग्रहीत करने, उसे सहेज कर रखने और सुधी अध्येताओं व शोधकर्ताओं को उपलब्ध कराने के काम में जुटा है। सूचना मिलने पर सामग्री प्राप्त करने के लिए संग्रहालय अपनी ओर से संपर्क करता है और यदि उसे साहित्यकारों के परिजनों अथवा अन्य सुधी साहित्य सेवियों की ओर से सामग्री प्रदान किए जाने का प्रस्ताव मिलता है, तो उसे सहर्ष स्वीकार भी किया जाता है।

12 मई, 2012 को हिंदी के प्रतिष्ठित कवि शमशेर बहादुर सिंह की अधिकांश सामग्री डॉ. रंजना अरगड़े ने संग्रहालय को प्रदान कर दी है, लेकिन शमशेर जी अपने जीवन काल में अनेक स्थानों पर रहे थे, अतः यह संभव है कि शमशेर जी ने अपनी कोई कविता, पेंटिंग या अन्य कोई सामग्री आप में से किसी को भेंट स्वरूप दी हो। यह भी संभव है कि शमशेर जी के जीवन–काल में ही उनकी कुछ सामग्री किसी के यहाँ छूट गई हो। अगर आप ऐसी तमाम सामग्री – पत्र, पांडुलिपियाँ, तस्वीरें, वस्तुएँ, पुरस्कार, हाथ से लिखा कोई पुर्जा, कोई स्मृति चिह्न, जो आपने अब तक अपने निजी संग्रह में सुरक्षित रखा हो, विश्वविद्यालय के संग्रहालय को देंगे, तो इससे व्यापक समाज लाभान्वित होगा और संग्रहालय आपकी इस भेंट से समृद्ध एवं गौरवान्वित होगा।

शमशेर जी की रचनावली प्रकाशन की प्रक्रिया में है। आपसे निवेदन है कि आप ऊपर संदर्भित कोई भी सामग्री शीघ्रातिशीघ्र विश्वविद्यालय को देने की पहल करें, ताकि उसका उपयोग रचनावली में किया जा सके। आपसे उपलब्ध हुई सामग्री आपके नाम के उल्लेख के साथ संग्रहालय में रखी जाएगी।

इस संबंध में आप निम्न लिखित पते पर संपर्क कर सकते हैं –

प्रभारी : स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स, वर्धा–442005 (महाराष्ट्र)
मोबा. 07599045113
E-mail : dr4devraj@gmail.com